(आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी–समारोह वर्षके शुभावसर पर)

शीतल – विलास

लेखक :

क्षुल्लकमणि श्रीशीतलसागर महाराज

(आचार्य श्रीमहावीरकीर्तिजी के शिष्य)

卐

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समाज

सांगानेर (जयपुर) राजस्थान

प्रथम संस्करण : २२००
दीपमालिका सन् १६८८

मूल्य : सदुपयोग

मुद्रक :
श्री बालचन्द्र यंत्रालय
'मानवाश्रम' जयपुर-१५

विषय-सूची

आवरण एवं ब्लॉक्स :
प्रकाश प्रिन्टर्स, सांगानेर (जयपुर)

शुभ – सम्मति

(विदुषीरत्न बाल ब्र. गणिनी आर्यिका श्रीविशुद्धमतीजी)

प्रस्तुत-पुस्तक को पढ़ने का पुण्योदय प्राप्त हुआ। मन प्रसन्नता से भर गया। क्षुल्लकजी की लेखनी सराहनीय है। इससे पूर्व आप द्वारा रचित, सम्पादित, संयोजित बहुतसी पुस्तकें एवं लेख पढ़ने को मिले हैं। विशाल 'श्रीमहावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ' जन-जन के हाथों में पहुँचाना आपका ही अकथ प्रयत्न है।

आप अपनी सभी रचनायें एवं संकलन दिन-रात जुटे रहकर करते रहते हैं। आध्यात्म के आप अधिक प्रेमी हैं। आपकी रचनाओं में आध्यात्मिक-ज्ञानगंगा का अपूर्व-प्रवाह रहता है, जिसे पढ़कर भव्य जीव, आत्म-सागर में गोते लगाते हैं।

यह पुस्तक आध्यात्मिक-भजन एवं लेखों से परिपूर्ण है। आशा है आध्यात्म-प्रेमी इसे पढ़कर सुषुप्त-आत्मनिधि को जाग्रत करेंगे।

आपकी प्रवचन-शैली भी बहुतही मधुर एवं ज्ञानरस से ओत-प्रोत है। आध्यात्म-प्रेमी होते हुए भी एकान्तवादी आगम-विरोधियों से एकदम परे है। आवाल वृद्ध नर-नारियों को सम्यग्ज्ञान प्राप्ति हेतु आप जगह-जगह शिक्षण-शिविर लगाते रहते हैं तथा शिक्षा भी आपकी यही रहती है कि अधिक से अधिक व्यक्ति, वय अनुसार सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें।

अन्त में हमारा यही शुभ-आशीर्वाद है कि आप इसी तरह अपनी स्याद्वादमयी वाणी और लेखनी से भव्यात्माओं को मार्ग-दर्शन कराते रहें।

प्रेषिका—

बा. ब्र. मनोरमा जैन शास्त्री बी.ए.

-: प्राक्कथन :-

मुझे पूज्य १०५ क्षुल्लक शीतलसागरजी महाराज द्वारा निबद्ध 'शीतल-विलास' पर दो शब्द लिखते हुये अत्यधिक प्रसन्नता है। क्षु. शीतलसागरजी महाराज साहित्य प्रेमी है। उनकी कलम अनवरत चलती रहती है। इसलिये जहाँ भी वे अपना चातुर्मास करते हैं वहीं की समाज को अपनी कृतियां देते रहते हैं। यदि कभी आचार्यश्री के संघ में रहने का अवसर मिलता है तो वे अलग से कोने में बैठकर अपनी साहित्यिक गतिविधियां चालू रखते हैं। किसी साधू द्वारा जब जिनवाणी के प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया जाता है तो समाज भी उनका पूरा समर्थन करता है और उनके द्वारा निबद्ध साहित्यके प्रकाशनमें पूरी रुचि लेता है।

शीतलसागरजी महाराजने इस वर्ष अपना चातुर्मास सांगानेर में किया है। सांगानेर जयपुर नगर से १२ किलोमीटर दूर है। यह नगर प्राचीन कालमें जैन धर्म एवं संस्कृति का प्रधान केन्द्र माना जाता था। १२ वीं शताब्दीमें निर्मित यहां का शिखर बन्द संघीजी का मन्दिर कला का एक उत्कृष्ट नमूना है जो दर्शनार्थियों के अतिरिक्त विदेशी पर्यटकों का भी सहज ही ध्यान आकृष्ट कर लेता है। संघी जी का मन्दिर पूरे राजस्थान में प्रसिद्ध मन्दिर है। सांगानेर में कितने ही जैन कवि हो चुके हैं। ब्रह्म रायमलने संम्वत् १६३३ में इसी नगर में भष्यिदत्त चौपाई की रचना समाप्त की थी। उस समय सांगानेर अत्यधिक समृद्ध नगर था। आमेर के राजा भगवंतराय का

उस समय यहां शासन था। यहाँ बड़े-२ मन्दिर थे तथा यहां के बाजार; सोना, चांदी एवं जवाहरात से भरे रहते थे—

देस ढूंढाहड़ सोभा घणी, पूजै तहां अली मत तणी।
निर्मल तलै नदी बहु फिरै, सुबार बसै सांगानेरी।
चहु दिसि भलो बण्यो बाजार, भरे पटोला मोती हार।
भवण उत्तंग जिणेसुर तणा, सोभै चंदको तोरण घणो।।

यहां किशनसिंहने संवत १७८४में त्रेपनक्रिया कोश की रचना की थी। पं. खुशालचन्द काला ने १७८०में व्रतकथाकोशकी रचना करके इस नगर के नामको उजागर किया। लेकिन इन कवियोंके पूर्व यहां जोधराज गोदीका हुये जिन्होंने संवत् १७२४ में सम्यक्त्व कोमुदी कथा की रचना समाप्त करने का गौरव प्राप्त किया। कविने सांगानेर की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि हजारों शहरोंमें सांगानेर के समान कोई अच्छा शहर नहीं है।

सांगानेर सुथान में, देश ढूंढाहड़ि सार।
ता सम नहिं को और पुर, देखे सहर हजार।।

इस प्रकार सांगानेर प्रारम्भसे ही जैन कवियोंका एवं भट्टारकों का केन्द्र रहा है। तेरह पंथके विकास में भी इस नगर का प्रमुख योगदान रहा है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि ऐसे सांस्कृतिक नगर में इस वर्ष शीतल सागरजी महाराजने अपना चातुर्मास करके उसके प्राचीन सांस्कृतिक वैभव को याद करने का अवसर प्रदान किया है।

शीतल-विलासमें क्षुल्लकजी महाराज की स्वरचित रचनाओं का संग्रह है जिनमें भजन, आत्मसंबोधन, कल्याणकारी दोहे, अन्तरात्मा-एक अनुशीलन, केशलुंचनः क्या और कैसे, भावः आत्मा की एक निधि, सल्लेखनाः कब क्यों और कैसे, मानव जीवन की सफलता, स्वाध्याय एक परम आवश्यक, आत्मा एक सर्वोत्कृष्ट निधि, दो

प्रकार को संगति, धर्म का मर्म, जैसे पाठों का संग्रह किया गया है। क्षुल्लकजी महाराज की गद्य एवं पद्य लेखन में समान गति है इन दोनों ही प्रकार की रचनाओं का विलास में कथन मिलता है।

प्रस्तुत विलास आधुनिक युग के पाठकों के लिये सर्वथा उपयोगी है। इसलिये इसके पाठोंका जितना मनन एवं चिन्तन किया जावेगा उतना ही वह हमारे जीवन को शुद्ध एवं विकार रहित कर सकेगा।

अन्त में मैं सांगानेर को जैन समाज की ओर से पूज्य क्षुल्लक जी महाराज के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ कि जिन्होंने अपने चातुर्मास की समाप्ति पर समाज को अपनी अमूल्य कृति प्रदान करके सत्साहित्य के प्रचार में भारी योग दिया है। आशा है भविष्य में भी आप अपनी लेखनी से इसी प्रकार समाज का मार्ग दर्शन करते रहेंगे।

८६७ अमृत कलश
बरकत नगर, किसान मार्ग
टोंक रोड़, जयपुर
२१-११-८८

डा. कस्तूरचंद कासलीवाल
निदेशक
श्रीमहावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर

आत्म-निवेदन

हमारा अपने साधु-जीवनके तैंतीस-वर्षोंका यह अनुभव है, कि इस विश्वमें जो भी सच्चे-सुखकी कामना करते हैं, वे जप-तप-नियम के साथ-साथ, आध्यात्मिक-शास्त्रोंका भी विशेषरूपसे पठन-पाठन व मनन करें।

अध्यात्म-शास्त्रोंमें भगवत्कुन्दाचार्यके; समयसार, नियमसार व प्रवचनसार आदि तथा आचार्य श्री योगीन्द्रदेवके; परमात्म-प्रकाश व योगसार आदि एवं आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दि) के; समाधितंत्र व इष्टोपदेश आदि विशेष पठनीय हैं।

प्रस्तुत कृतिमें आध्यात्मिक-भजनों एवं 'अन्तरात्मा: एक अनुशीलन आदि लेखोंमें विशेषकर इन्हीं शास्त्रोंके रहस्योद्घाटन करनेका प्रयत्न किया है, आशा है आत्म-हितैषी पाठकवृन्द इनसे लाभान्वित होंगे।

विदुषीरत्न बाल ब्रह्मचारिणी गणिनी आर्यिका श्रीविशुद्धमती जीने अपनी 'शुभ-सम्मति' देने का कष्ट किया है, साथही डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी., शास्त्रीने 'प्राक्कथन' लिखनेका कष्ट किया है डाक्टर साहब सारे भारतवर्षके जैनों-अजैनों में जाने-माने वयोवृद्ध अनुभवी विद्वान हैं। यहाँ दोनोंके विषयमें कुछ भी लिखना अत्यल्पही होगा।

डाक्टर साहबने जब इस कृतिका नाम 'शीतल-विलास' घोषित कर दिया तो हम उनके सुझावको ओझल नहीं कर सकते। हमारी भी भावना यही है कि आत्माका जो शान्त-शीतल स्वभाव है उसीमें सदा-सदाके लिये विलास करने वाले हो जावें।

आशा है यह कृति, मोक्षार्थी-सुमुक्षुओंके लिये स्व-परके कल्याणमें सहायक होगी।

—लेखक

卐 समर्पण 卐
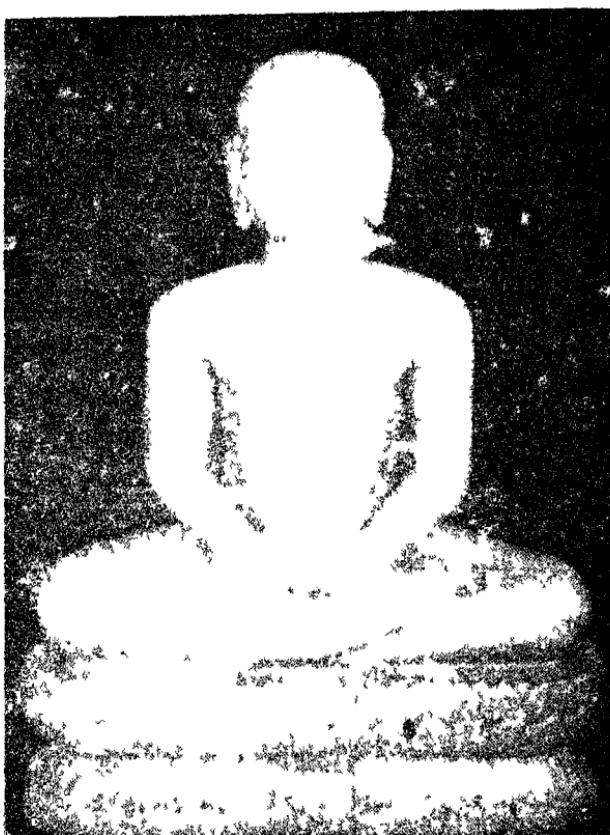
हे आत्मन् ! यह कृति समर्पण,
जो निजात्म में रमते हैं !
रमते रहें अनन्तकाल तक,
स्वात्म-दृष्टि जो रखते हैं !!

—रचयिता

(अहिंसा के अवतार)

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान-महावीर

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

(वनमें ताडपत्र पर समयसारादि महान ग्रन्थ लिखते हुए)

—: शुद्धि—पत्रक :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
	सूचना—कृपया पृष्ठ १६६ को १७४ और पृष्ठ १७४ को १६६ समझें।		
२८	अंतिम	नी दक	न कदीव
३८	प्रथम	दन	देने
३८	चतुर्थ	ट्ड	ट्ठ
४०	१४	पूज्या	पूज्य
४३	६	तोषी	तृष्णा
४६	१६	श्च पला	श्चपला
५२	१०	चावासों	चौबीसों
५४	१७	छटते	छूटते
५५	प्रथम	बढ़न	बढ़ने
५७	११	पारिणायिको	पारिणामिको
५८	१७	व्यापात	व्यपेत
५६	४	पुराकामिनी	पुरकामिनी
६४	१८	क्राधादि	कोधादि
६८	७	सवत्र	सर्वत्र
७०	६	योग्थ	योग्य
७७	६	क्षाण	क्षीण
८०	१७	स्निग्धं	स्निग्धं च
८०	१६	यत्जेत्	त्यजेत्
८७	५	ग्रदार्थोंमें	पदार्थोंमें
८६	११	ध्यानाइग्नि	ध्यानाग्नि
६१	११	कछू	कछु
६५	१३	भ्रू वो	भ्रू वो

१०४	५	नैर्ग्रन्ध्यमपि	नैर्ग्रन्थ्यमपि
१०६	१५	चक्रवर्तो	चक्रवर्ती
१०६	अंतिम	जावत	जीवत
११२	२५	स्वात	स्वाति
११२	२५	काइ सस्थान	कोई संस्थान
११६	६	घ्यान	घ्यानीसे घ्यान
११६	२३	ज्ञस प्रकार	इस प्रकार
१२१	अन्तिम	ज्ञानगम्य	ज्ञानगम्य
१२३	१७	एवं	एव
१२४	८	अतेकों	अनेकों
१२६	१७	तुनीत	पुनीत
१२६	२३	तूही सिद्ध	तूही उपाध्याय
१२६	२३	पंचाचाराका आचरण परके	ममत्वका त्याग
१२६	२४	आचार्य है।	ऋृषिराज है।
१३०	१	इनका	इनकी
१४३	३	विचा-	विचार
१४३	८	उत्तगक्षमा	उत्तमक्षमा
१४५	अन्तिम	छहडाला	छहढाला
१४६	२	गाश्वत	शाश्वत
१५२	२४	देदाप्यमान ज्याति	देदीप्यमान ज्याति
१५८	७	सघान	सन्धान
१६२	२६	ज्ञान-शौकतका	शान-शौकतका
१६६	२०	उपयोग	उपभोग
१७२	१५	प्रकृविके	प्रकृतिके
१७२	१८	सदै व	सदैव
१७६	१०	निराग	निरोग

—: दातारों की नामावली :—

१०००/रु.	M/s रवि कन्सट्रक्शन कम्पनी	सांगानेर
१०००/रु.	M/s कान्ता कन्सट्रक्शन्स	,,
१००० रु.	श्रीमती कांतिदेवी जैन	जवाहर नगर जयपुर
५०१ रु.	श्रीबजरंगलाल जैन अग्रवाल नेवटा वाले	सांगानेर
५०१ रु.	श्रीमती सुशीला जैन ध. प. महेंद्रकुमार जैन सावरदा वाले	जयपुर
५०० रु.	श्रीशरदकुमार जैन रांवका	सांगानेर
४५१ रु.	श्री दि. जैन समाज चित्रकूट कालोनी	,,
३०२ रु.	श्रीदुलीचन्द जैन बैनाड़ा	,,
३०० रु.	श्रीसन्तकुमार जैन भौंसा	,,
२५१ रु.	श्रीधनकुमार ऋषभकुमार जैन	
२५१ रु.	श्रीमिश्रीलाल प्रकाशचन्द्र जैन निमोड़ियावाले	,,
२५१ रु.	श्रीमूलचन्द्र जैन किशनगढ़ वाले	,,
२५० रु.	श्रीमती भँवरबाई जैन झांझरी	रैणवाल
२५० रु.	श्रीकैलाशचन्द्र जैन अग्रवाल खातीपुरा वाले	सांगानेर
२०३ रु.	श्रीगेंदीलाल भंवरलाल जैन सौगानी	,,
२०१ रु.	श्रीलक्ष्मीनारायण ज्ञानचंद जैन	
१५१ रु.	श्रीप्रकाशचन्द्र जैन बोहरा	,,
१५१ रु.	श्रीधनपाल जैन लदाना वाले	,,
१५१ रु.	श्रीबाबूलाल जैन बोहरा	,,
१०५ रु.	श्रीबालचन्द प्रकाशचन्द्र जैन	रैणवाल
१०५ रु.	श्रीसौभागमल जैन सरावगी	,,
१०५ रु.	श्रीप्रकाशचंद्र प्रसन्नकुमार जैन	,,
१०१ रु.	श्रीकैलाशचन्द्र जैन पार्ली वाले	सांगानेर
१०१ रु.	श्रीमती डा. कुसुम जैन	जयपुर
१०१ रु.	श्रीमती अध्यापक कपूरचन्दजी जैन	सांगानेर
१०१ रु.	श्रीटीकमचन्द जैन अजमेरा	,,

१०१ रु. श्रीसुभाषचन्द्र जैन अजमेराकी माताजी सांगानेर
१०१ रु. श्रीमती सुशीला जैन ध. प. श्रीमणिकुमार जैन जयपुर
१०१ रु. श्रीप्रेमचन्द्र जैन टोंक वाले सांगानेर
१०१ रु. श्रीराकेश जैन लाखना वाले „
१०१ रु. श्रीचांदमल जैन आसलपुर वाले „
१०१ रु. श्रीमतीप्रेमलता ध. प. माणिकचन्द्र जैन जयपुर
१०१ रु. श्री नाथूलाल महावीर कुमार जैन झांझरी रैणवाल
१०१ रु. श्रीमती मैनादेवी ध. प. श्रीभागचन्द सेठी जयपुर
१०१ रु. श्रीमती उमराव बाई ध. प. श्रीमुन्नालाल पाटनी „
१०१ रु. श्रीलादूलाल जैन कासलीवाल उणियारा वाले „
१०१ रु. श्रीरतनलाल जैन बोहरा सांगानेर
१०१ रु. श्रीप्रेमचन्द जैन बाकलीवाल „
१०१ रु. श्रीरतनलाल जैन छाबड़ा „
१०१ रु, श्रीमती फूलीबाई जैन खटवाड़ा वाली जयपुर
१०० रु. श्रीश्रवणलाल पदमचन्द जैन रैणवाल
५१ रु. श्रीसोहनलाल महावीर प्रसाद जैन „
५१ रु. श्रीमती ललिता जैन लुहाड़िया „
५१ रु. श्रीमती विमला देवी ध. प. प्रेमचन्द्र सौगानी सांगानेर
५१ रु. श्रीमती ध. प. नंदलाल जैन भौंसा „
५१ रु. श्रीफूलचन्द जैन अजमेरा „
५१ रु. श्री कल्याणमल शांतिकुमार जैन पवांल्या वाले „
५१ रु. श्रीमती कनक देवी जैन जयपुर
५१ रु. श्रीमती मनफूल देवी जैन „
५१ रु. श्रीमती पुष्पा जैन ध. प, राजकुमार मथुरा वाली सांगानेर

——✽——

भगवान महावीर के अनुगामी श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की परम्परामें
होने वाले, इस शताब्दी के प्रथम एव महान्

आचार्य श्री आदिसागर महाराज

आचार्य श्री महावीरकीर्ति महाराज

(भजन-क्रमांक १)

मैं केवल-ज्ञान स्वभावी हूँ, मैं शीतल-शान्त स्वभावी हूँ ।।ध्रुव।।

(१)

मैं चित् चेतन चैतन्य जीव, चेतना आतम कहलाता हूँ ।
मैं जाना जाता ज्ञान-मात्र से, केवल ज्ञान स्वभावी हूँ ।।मैं०।।

(२)

मैं वर्जित हूँ परके प्रवेश, परमें प्रवेश नहिं करता हूँ ।
मैं सदा सहज आनन्द-धाम, मैं केवलज्ञान स्वभावी हूँ ।।मैं०।।

(३)

मैं माया-ममता रूप नहीं, संकल्प-विकल्प न करता हूँ ।
मैं सदा स्व-पर का ज्ञायक रह, मैं केवलज्ञान स्वभावी हूँ ।।मैं०।।

(४)

मैं ज्ञान-रूप ही रहूँ सदा, इस-कारण ज्ञान-स्वभावी हूँ ।
कहने में जग कुछ भी कहले, मैं केवलज्ञान स्वभावी हूँ ।।मैं०।।

(५)

मैं सोच समझ यदि लीन रहूँ, निज शुद्ध ज्ञान-घन आतम में ।
मैं ही फिर सिद्ध शुद्ध 'शीतल', मैं केवलज्ञान स्वभावी हूँ ।।मैं०।।

(भजन-क्रमांक २)

मैंने आतम से आतम को जान लियाजी ।।ध्रुव।।

कुन्दकुन्द ने समयसार में, देखो ! आतम का ज्ञान कराय दियाजी ।
मैंने आतम से .... ।।१।।

सब-द्रव्यों में, मैं हूँ निराला, मैंने लक्षण से स्व को पिछान लियाजी ।
मैंने आतम से .... ।।२।।

मैं हूँ निरन्तर ज्ञान स्वभावी, मैंने ज्ञान से ज्ञानी को मान लियाजी ।
मैंने आतम से .... ।।३।।

क्रोधादिक शाश्वत् नहीं रहते, उनका हूँ ज्ञायक समझ लियाजी ।
मैंने आतम से .... ।।४।।

आकुलता से सदा रहित मैं, मैंने अपने से अपने को पाय लियाजी ।
मैंने आतम से .... ।।५।।

सभी जीव हैं ज्ञान-स्वरूपी, ज्ञान में मेरे समाय गयाजी ।
मैंने आतम से .... ।।६।।

सभी द्रव्य हैं स्व-स्वभाव में, उनका हूँ ज्ञायक समझ लियाजी ।
मैंने आतम से .... ।।७।।

ज्ञानानन्दी शुद्ध चिन्मयी, मेरे-आतम के अनुभव में आय गयाजी ।
मैंने आतम से .... ।।८।।

मैं हूँ 'शीतल' शान्त-स्वभावी, मैंने अपने को अपने से ध्याय लियाजी ।
मैंने आतम से ....।९।।

——❀——

(भजन–क्रमांक ३)

आतमा हूँ आतमा हूँ आतमा, मैं सदा ज्ञायक-स्वरूपी आतमा ।।ध्रुव।।

(१)

शस्त्र से काटे कभी कटता नहीं, तीर से छेदे कभी छिदता नहीं ।
अग्नि से जलता नहीं मैं आतमा ।।आतमा हूँ।।

(२)

सूखता वायु से सोखे मैं नहीं, जल गलाये तो भी मैं गलता नहीं ।
हूँ त्रिकाली-शुद्ध शाश्वत्-आतमा ।।आतमा हूँ।।

(३)

चर्म-चक्षु से कभी दिखता नहीं, मूर्ख नर मिथ्यात-वश जाने नहीं ।
ज्ञानियों के गम्य मैं हूँ आतमा ।।आतमा हूँ।।

(४)

क्रोध माया मान से मैं भिन्न हूँ लोभ अरु रागादि से मैं छिन्न हूँ ।
भाव-कर्मों से रहित मैं आतमा ।।आतमा हूँ।।

(५)

आवरण हैं भिन्न दर्शन ज्ञानके, हैं अलग परदे करम मोहादि के ।
द्रव्य-कर्मों से रहित मैं आतमा ।।आतमा हूँ०।।

(६)

गौरा काला जो कि दिखता चाम है, मोटा-पतला होना इसका काम है ।
सब-शरीरों से रहित मैं आतमा ।।आतमा हूँ०।।

(७)

भूलकर मैं आपको दुख पा रहा, पर-विभावों को भी अपने गा रहा ।
भूल-मेटनहार मैं ही आतमा ।।आतमा हूँ०।।

(८)

दीप-सम-स्व-पर प्रकाशी हूँ सदा, मात्र ज्ञाता और दृष्टा हूँ सदा ।
शान्त 'शीतल' शुद्ध निर्मल आतमा ।।आतमा हूँ०।।

——❀——

(भजन-क्रमांक ४)

मेरे चैतन्य-घन ! नित्य निज में मगन, प्यारे आतम !
भूल तुम क्यों भटकते निजातम ।।ध्रुव।।

ज्ञान दर्शन है लक्षण तुम्हारा, जानना-देखना काम प्यारा ।
शुद्ध ज्ञाता प्रभो ! शुद्ध द्रष्टा विभो ! प्यारे आतम ।।भूल।।

सर्व-गतियों को पा उनसे न्यारे, सब-विभावों को कर-करके टारे ।
ज्ञान से सर्वगत, परमें किंचित् न रत, प्यारे आतम ।।भूल०।।

पक्ष-व्यवहार से तुम अज्ञानी, पर न रहते सदा ही कुज्ञानी ।
सिद्ध-सम हो सदा, जड़ न होंगे कदा, प्यारे आतम ।।भूल०।।

शस्त्र से काटे पुद्गल ही कटता, तीर से छेदे पुद्गल ही छिदता ।
अग्नि जलता वही, जल से गलता वही, प्यारे आतम ।।भूल०।।

ज्ञान हो ज्ञान में नित्य रहते, शुद्ध-ज्ञायक हो निज में विचरते ।
पर में मिलते नहीं, पर को छूते नहीं, प्यारे आतम ।।भूल०।।

जग में जीवात्मा तुम कहाते, होके परमात्मा भी सुहाते ।
सोचो समझो सुधी ! हो रहे क्यों कुधी, प्यारे आतम ।।भूल०।।

मोक्ष जिन-जिनने 'शीतल' है पाया, हेतु शाश्वत्-शरण तू कहाया ।
मेरे आनन्द-धन ! हे निराकुल-सदन ! प्यारे आतम ।।भूल०।।

———❀———

(आतम-कर्तव्य)

यदि सच्चा-सुख चाहे चेतन ! रटन लगा प्रभु दासोऽहं ।
दासो ऽहं को रटते-रटते, होजा प्रभु में खूब मगन ।।

इस अनन्य-भक्ति से तूही, पहिचानेगा निज-आतम ।
फिर सोऽहं को ध्याते-ध्याते, हो जावेगा परमातम ।।

———❀———

(भजन-क्रमांक ५)

मेरी आतमा री ! तेरी अनुपम-अद्भुत महिमा ।।ध्रुव०।।

कुन्दकुन्द योगिन्दु सूरि ने, तेरा बहु-गुण गाया ।
समयसार और योगसार में, तरह-तरह समझाया ।।मेरी०।।

परमातम-प्रकाश में तेरा, विस्तृत-वर्णन आया ।
समाधितंत्र इष्टोपदेश में, खूब तुझे समझाया ।।मेरी०।।

चित्-चेतन चैतन्य जीव अरु: ब्रह्म हंस कहलाती ।
कहलाती चेतना तू ही है, क्यों नहिं निज को ध्याती ।।मेरी०।।

तू ही अजर-अमर अविनाशी, अरु सुख की भण्डार ।
तू ही स्वपर की ज्ञाता-द्रष्टा; तज रागादि विकार ।।मेरी०।।

जग के ज्ञानी-ध्यानी योगी, सब तेरा गुण गाते ।
पर तेरी सच्ची श्रद्धा बिन, नाना दुक्ख सु पाते ।।मेरी०।।

तेरे समझे बिन हे आतम ! मुनि मोक्ष नहिं पाते ।
द्रव्यलिंगि कहलाकर चाहे, नवग्रीवक तक जाते ।।मेरी०।।

तज इन्द्रिय-विषयों को आतम ! गुरु अरु ग्रन्थ सिखाते ।
तू नहिं इन्द्रिय अरु विषय है, ज्ञायक ही समझाते ।।मेरी०।।

जो भी दिखता चर्म-चक्षु से, वह नहिं तेरा कुछ भी ।
तेरा तो तू ही अनादि से, रहे अनन्त-समय भी ।।मेरी०।।

अशुभ छोड़ तू शुभ में लग जा, शुद्ध को साध्य बनाले ।
हो तल्लीन आप में आतम ! 'शीतल' सिद्ध कहाले ।।मेरी०।।

——❀——

(भजन–क्रमांक ६)

मानव ! अपने को पहिचानो, सच्चे-सुख को पाओगे ।
सच्चे-सुख को पाओगे, कभी ना भव-भटकाओगे ।।ध्रुव०।।

(१)

देखो मानव ! तुम नहिं मानव, यह शरीर का नाम ।
इस निमित्त से यदि तुम अटके, दुख ही पाओगे ।।मानव०।।

(२)

जो कुछ दिखता इस जगती में, वह सब जड़ तुम जीव ।
अपने को यदि नहिं पहचाना, फिर पछताओगे ।।मानव०।।

(३)

बाल-युवा अरु वृद्ध अवस्था, ये शरीर के रूप ।
इन सबसे अत्यन्त भिन्न तुम, निज को पाओगे ।।मानव०।।

(४)

दो प्रकार की वस्तु जगत में, वे हैं जीव-अजीव ।
तुम अपने को भूल के मानव ! ठोकर खाओगे ।।मानव०।।

(५)

सचमुच में तुम जीव हो मानव ! ज्ञान-स्वभावी नित्य ।
'शीतल' शांत स्वभावी रहकर, ध्यान लगाओगे ।।मानव०।।

——※——

(भजन-क्रमांक ७)

हे आत्मन् ! तू है चित्स्वरूप, हे आत्मन् ! तू है शुद्धरूप ।।ध्रुव।।

(१)

तू कहता है मैं सुखी-दुखी, तू कहता है मैं रंक-राव ।
तू कहता है मैं सबल-दीन, विस्मृत कर आत्मन् निज स्वरूप ।।हे०।।

(२)

तू पर को अपना मान मूढ़, करता आकुलता हो विमूढ़ ।
होंगे न हुये पर तेरे रे, कर स्वानुभूति तेरा स्वरूप ।।हे०।।

(३)

तू गन्ध वर्ण रस से है भिन्न, स्पर्श-शब्द से भी है छिन्न ।
तू अमितशक्ति सुख का निधान, अविनश्वर दर्शन ज्ञान-भूप ।।हे०।।

(४)

तू राग-द्वेष से रहित सदा, क्रोधादि-कषायों में न पगा ।
तू है स्वतंत्र चैतन्य-पुन्ज, ज्ञायकता ही तेरा स्वरूप ।।हे०।।

(५)

तू अपना ही कर्ता धर्ता, तू है न किसी का भी हर्ता ।
पर-परिणति से अप्रभावी है, है शुद्ध-बुद्ध अविरुद्ध-रूप ।।हे०।।

(६)

तू वह है रे ! जो हैं भगवन्, तू जो है रे ! वे हैं भगवन् !
इच्छावश हो परमें रमता, है सिद्ध-सदृश तेरा-स्वरूप ।।हे०।।

(७)

तूही है ब्रह्मा-विष्णु-राम, तेरा ही शंकर-बुद्ध नाम ।
है राग त्याग से वीतराग, 'शीतल' जिनेंद्र तेरा-स्वरूप ।।हे०।।

——❀——

(भजन–क्रमांक ८)

स्वयं परमात्मा होकर, सिखाया वीर ने हमको।
कर्म किस-भाँति कटते हैं, सिखाया वीर ने हमको ।।ध्रुव।।

द्रव्य अरु भाव व नोकर्म, बताये जैन-वाणी में
अलग है आतमा इनसे, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं।।

कर्म अपने का सचमुच जीव ही, कर्ता व हर्ता है।
समझ के फेर को समझें, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं।।

अनादि से जो आतम है, कभी भी वह नहीं मरता।
अनंती–शक्ति का धारक, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं०।।

सभी हैं जीव इस जग में, अनंती-शक्ति के धारक।
व्यक्त-अव्यक्त का अंतर, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं०।।

शक्ति हो पर प्रकट ना हो, दुखी होता है वह प्राणी।
प्रकट होते सुखी होता, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं०।।

आप हम कौन हैं? आतम, और ज्ञानात्मा जानो।
नित्य ज्ञायक ही रहते हैं, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं०।।

शरीरादि में रहने से, समझते हो यदि वैसा।
यही अज्ञान दुखदायक, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं०।।

ज्ञानमय रहते सब आतम, शरीरादि में रहते भी।
अतः हों शांत 'शीतल' सब, सिखाया वीर ने हमको ।।स्वयं०।।

——❀——

(भजन-क्रमांक १)

करहुँ आरती महावीर की, वीर-प्रभु अतिवीर विभु की ।
बालयति श्रीवर्धमान की, सन्मति-दायक सन्मति-प्रभु की ।।ध्रुव।।

(१)

कुण्डलपुर में जन्म लिया प्रभु, चैत्र सुदी तेरस के दिन विभु ।
हो देवों के देव आप प्रभु, वीतराग सर्वज्ञ स्वयं-विभु ।।करहुँ०।।

(२)

सिद्धारथ-महाराजा नामी, पुत्र हुये प्रभु ! आप अकामी ।
चाँदनपुर में प्रकटे स्वामी, घट-घटके हो अन्तर्यामी ।।करहुँ०।।

(३)

त्रिशला-महारानी के नन्दन, करते हाथ जोड़ हम वन्दन ।
काटो मेरे भव का फन्दन, क्योंकि आप प्रभु कर्म-निकंदन ।।करहुँ०।।

(४)

द्वादश-वर्ष किया तप भारी, कर्म-कालिमा के हो जारी ।
केवल ज्ञान हुआ सुखकारी, आप तिरे जग-जनके तारी ।।करहुँ०।।

(५)

राजगृही-नगरी में आये, प्राणिमात्र को बोध कराये ।
स्याद्वाद सिद्धान्त सिखाये, सुयश आपका तिहुँ जग छाये ।।करहुँ०।।

(६)

पावापुर से मोक्ष सुपाया, शाश्वत्-सुख को प्रभु प्रकटाया ।
तीन लोक में आनन्द छाया, स्वामी सबका कष्ट मिटाया ।।करहुँ०।।

(७)

जो भी भविजन तुम गुण गायें, उसका स्वामी नियम निभायें ।
होने 'शीतल' शरण सु आये, शांति-सुधारस आनंद छाये ।।करहुँ०।।

———❀———

(भजन-क्रमांक १०)

बड़ा आश्चर्य है आतम !, जो अनुभव कष्ट का करते ।
तुम्हें समझायें क्या तुमतो, नित्य ही ज्ञानमय रहते ।।ध्रुव।।

(१)
क्यों करते परमें निज-बुद्धि, स्वयं को भूल करके तुम ।
तुम्हीं हो शुद्ध-ज्ञाता और द्रष्टा, दुक्ख क्यों भरते ।।बड़ा०।।

(२)
अनादिकाल से तुमने, किया प्रतिपल है क्या आतम ।
ध्यान देओ तनिक उसमें, नित्य ज्ञायक ही तुम रहते ।।बड़ा०।।

(३)
जगत में हो रहा जो कुछ, उसे होने दो हे आतम !
तुम्हारा धर्म तो ज्ञायक, रहो वैसे उसे धरते ।बड़ा०।।

(४)
होके सुज्ञान-मय नित आप, कार्य भी ज्ञानमय करते ।
करो उस ओर तुम द्रष्टि, तो झरने शांति के झरते ।।बड़ा०।।

(५)
करो मत भूल अब आतम, डटो निज-ज्ञान भावों में ।
भला होगा तुम्हारा मानलो, गुरुवर्य यह कहते ।।बड़ा०।।

(६)
भजन के शब्द ये जड़ रूप, समझो भाव हे भव्यों !
समझ तल्लीन हों आतम, निजानंद-पान वे करते ।।बड़ा०।।

(७)
निजातम-धर्म में रहना, यही पुरुषार्थ है सच्चा ।
वहाँ आनन्द ही आनन्द, 'शीतल' शान्त वे रहते ।।बड़ा०।।

---※---

(भजन क्रमांक ११)

केवलज्ञान स्वभावी चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ।
केवल-दर्श स्वभावी चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ॥

(१)

सदा निराकुल-सुखवाला है, देख ध्यान से अपनी ओर ।
सदा अनन्त-शक्ति का धारक, देख ध्यान से अपनी ओर ॥

(२)

परमानन्द-स्वभावी चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ।
ज्ञानानन्द-स्वभावी चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ॥

(३)

जन्म-मरण से सदा रहित तू देख ध्यान से अपनी ओर ।
है अखण्ड-असंख्य-प्रदेशी, देख ध्यान से अपनी ओर ॥

(४)

नित्यानन्द-स्वभावी चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ।
सहजानन्द-स्वभावी चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ॥

(५)

सब संकल्प-विकल्प रहित तू, देख ध्यान से अपनी ओर ।
सदा स्वपर का ज्ञायक तू ही, देख ध्यान से अपनी ओर ॥

(६)

सिद्ध-स्वभावी तू ही चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ।
'शीतल' शान्त-स्वभावी चेतन ! देख ध्यान से अपनी ओर ॥

---*---

(भजन-क्रमांक १२)

हे वर्धमान महावीरा ! श्री सन्मति-प्रभु अतिवीरा ।
तेरी महिमा कही न जाय, हे वर्धमान महावीरा ।।ध्रुव।।

(१)

द्रौपदी का चीर बढ़ाया, सीता-प्रति कमल रचाया ।
किया सतियों को भव-पार, हे वर्धमान महावीरा ।।हे०।।

(२)

श्रीपाल का कुष्ठ निवारा, पापी-अञ्जन भी तारा ।
सब जग का कर उद्धार, हे वर्धमान महावीरा ।।हे०।।

(३)

मेरी अटकी भव में नैया, हो आप ही पार लगैया ।
हों सुखी सभी नरनार, हे वर्धमान महावीरा ।।हे०।।

(४)

हो चौबिसवें तीर्थंकर, सब जग के आप हितंकर ।
प्रभु प्रकटे हो चांदनपुर, हे वर्धमान महावीरा ।।हे०।।

(५)

अष्टादश दोष रहित हो, सर्वज्ञ-वीतरागी हो ।
प्रभु ! महिमा अपरम्पार, हे वर्धमान महावीरा ।।हे०।।

(६)

आये हो आप अवागढ़, इक तीर्थ भी है पावागढ़ ।
प्रकटाओ सौख्य-अपार, हे वर्धमान महावीरा ।।हे०।।

(७)

'शीतल' शीतलता प्रकटे, कोई ना जग में भटके ।
हो शान्त-सुखी संसार, हे वर्धमान महावीरा ।।हे०।।

—-❀—

(भजन-क्रमांक १३)

चेतन ! श्रेयोमार्ग पहिचान, जिससे होय स्वपर कल्याण ।।ध्रुव।।

(१)

तू इठलाता तन-धन पर रे ! कोई न साथी जान ।
व्यर्थ इन्हों में ममता करके, बनता क्यों अज्ञान ।।चेतन०।।

(२)

कुटुम-कबीला खुद स्वारथ का, है यह निश्चय जान ।
स्वार्थ-सधे तक आता जाता, फिर किसका महमान ।।चेतन०।।

(३)

तू मदमस्त होय भोगों में, कर न सका निज-ध्यान ।
जिससे अब तक दुखही पाया, कर अब आतम-ज्ञान ।।चेतन०।।

(४)

छोड़ कुटेव अनादि की भाई ! धर तू आतम-ध्यान ।
तो सचमुच ही छूट दुखों से, पावे अविचल थान ।।चेतन०।।

(५)

इस शिक्षा को हृदय में धर, कुछ तो कर नादान ।
क्षणभर का मालूम न 'शीतल', निकल जायेंगे प्राण ।।चेतन०।।

———❀———

(भजन-क्रमांक १४)

हे महावीर-भगवान् ! अरज इक मेरी ।
हो दुखियों का दुख दूर, करो मत देरी ।।ध्रुव।।

लिया कुण्डलपुर अवतार आपने भगवन् !
सिद्धारथ-महाराजा के हो प्रिय-नन्दन ।।
त्रिशला-महारानी के सुत आप कहाये ।
हो के अतिवीर-सुवीर जगत में छाये ।।
हो शांति-सुधारस पान, कामना मेरी ।।हो०।।

चित्-अचित् तत्त्व जेते हैं इस जगती में ।
उत्पाद-ध्रौव्य अरु नाश सहित क्षण-क्षण में ।।
झलकें वे एकहि साथ, ज्ञान-दर्पण में ।
ऐसा है ज्ञान-महान् आप त्रिभुवन में ।।
सबमें प्रकटे वह ज्ञान, विनय यह मेरी ।।हो०।।

प्रभु ! समझ आपने, अपने को अपने से ।
हुये स्वातम में तल्लीन, ज्योति जगने से ।।
किये घाति-अघाति कर्म, चूर निज-बल से ।
प्रकटा अनुपम-आनन्द, आत्म-रमने से ।।
तुम गुण-वर्णन की, शक्ति नहीं है मेरी ।।हो०।।

प्रभ की वाणी हो गंगा है सुखदानी ।
जो भाँति-भाँति के नय-कल्लोल बखानी ।।
जो महा-विमल करती है, जग-जीवों को ।
क्योंकि नहलाती ! ज्ञान-वारि से सबको ।।
जो बुध नहाय उस होय कर्म की ढेरी ।।हो०।।

तीनों लोकों को जीता जिस योद्धा ने ।
उस कामदेव को जीता बालकपन में ।।
पाया अतुलित-आनन्द, स्वातम में रम के ।
हुये मुक्ति-रमा के ईश, ईश सब-जग के ।।
सज्जन-सुशील सब होंय, प्रार्थना मेरी ।।हो०।।

इस जग में प्रभु का नाम है, दुक्ख-विनाशक ।
कर दो सब का दुख दूर, हे सुख-प्रकाशक ।।
किया कोटि-कोटि दुष्टों का, दुक्ख-निवारण ।
मेरा अब तक क्यों नहीं ? जगत के तारण ।।
आया भव-भय से भीत, शरण में तेरी ।।हो०।।

आतंक लोक में महा-मोह का जारी ।
जिसके वश हों जग-जीव, सहें दुख भारी ।।
उसके आकस्मिक-वैद्य, आप-अवतारी ।
अरु स्वार्थहीन हो, बंधु परम-उपकारी ।।
हों सब 'शीतल' अरु-शांत, भावना मेरी ।।हो०।।

(भजन-क्रमांक १५)

हे पार्श्वनाथ-भगवान ! भावना मेरी ।
हो शान्त-सुखी संसार, प्रार्थना मेरी ।।ध्रुव०।।
लिया वाराणसि अवतार, आपने स्वामी !
वामा-महारानी के हो, पुत्र-अकामी ।।
हुये विश्वसेन-राजा के, आप दुलारे ।
भक्तों के भव-भव में, हो आप सहारे ।।
आया चरणों में दास, अरज यह मेरी ।।हो०।।

जिसके निमित्त से, जग से तिरते प्राणी ।
कहलाता है वह तीर्थ, जगत-कल्याणी ।।
उस धर्म तीर्थ के कर्त्ता, हो तीर्थंकर ।
हुये प्राणिमात्र के, जग में आप हितंकर ।।
थी बजी आपसे, विश्व-धर्म की भेरी ।।हो०।।

प्रभु ! आप कहाते, मोक्ष-मार्ग के नेता ।
विख्यात आप ही, कर्म-शत्रु के भेत्ता ।।
हो भू-मण्डल में, विश्व-तत्त्व के ज्ञाता ।
जिससे होती है, सबको ही सुख-साता ।।
ली सुख-साता के हेतु, शरण में तेरी ।।हो०।।

सम्मेद-शिखर है तीर्थ, जगत में भारी ।
उसमें रचना है, स्वर्ण-कूट की न्यारी ।।
वहां से पाई प्रभु ! मुक्ति-रमा हितकारी ।
थी तिथि सप्तमी, श्रावण-शुक्ला प्यारी ।।
किये कर्म आप चकचूर, मिटी भव-फेरी ।।हो०।।

पूजे जाते हो पार्श्व ! आप चिन्तामणि ।
बाबा तिरवाल वाले भी, हो हे गुणमणि !
है अन्तरीक्ष भी नाम, आपने धारा ।
पर नाम 'अटारी वाले, बाबा' प्यारा ।।
होवे सब 'शीतल' शान्त शरण ली तेरी ।।हो०।।

-:छप्पय-छन्द:-

सम्यग्द्रष्टि-जीव, आपको ज्ञाता जाने ।
सम्यग्द्रष्टि-जीव, आपको द्रष्टा माने ।।

(१)

सम्यग्द्रष्टि-जीव, ज्ञान-भावों का कर्त्ता ।
सम्यग्द्रष्टि-जीव, ज्ञान-भावों का भोक्ता ।।

(२)

सम्यग्द्रष्टि-जीव ही, शुद्धातम-पद को गहे ।
सम्यग्द्रष्टि-जीव ही, अविनाशी-सुख को लहे ।।

([illegible])

छोड़ो कषाय त्यागो तृष्णा, यदि आकुलता से डरते हो ॥ध्रु०॥

(१)

उद्धार हुआ कब किसका केवल गीत ज्ञान का गाने से ।
जीवन में उतरा धर्म नहीं, होगा क्या राग-रमाने से ॥
श्रद्धान अगर कुछ नहीं, व्यर्थ ही मुख से वचन उचरते हो ॥छोड़ो०॥

(२)

जीवन के साथ मरण, सुख-दुख, सर्दी-गर्मी का जोड़ा है ।
बच पाया वही निराशा से, जिसने आशा को छोड़ा है ॥
शिर पर मँडराता काल अरे ! [illegible] तेरा-मेरा करते हो ॥छोड़ो०॥

(३)

जब तक [illegible] में रम सके । तब तक यों ही दुख पाओगे ।
स्वात्मीक परम्-पद दूर नहीं, जब संयम को अपनाओगे ॥
माया में पड़कर बार-बार, क्यों चढ़ते और उतरते हो ॥छोड़ो०॥

———❀———

[illegible] प्रेरणाप्रद छन्द

(१)

करो न चेष्टा बोलो भी मत, सोचो भी मत हे आतम ।
हो जाओ तल्लीन स्वयं में, फिर तो तुम ही [illegible] ॥
क्या कैसा किसका मत सोचो, किससे किसमें हे आतम ।
निज-शरीर को बिलकुल भूलो, ज्ञान लीन हो परमातम ॥

———❀———

(भजन–क्रमांक १७)

ण फूल बरसाओ, यह शुभ-दिन आज आया है ।

अनेकों नारि-नर आये, यह शुभदिन आज आया है ।।ध्रुव।।

(१)

हुआ मुनिराज का आहार, देखो आज इस घर में ।

धुले हैं पाप भी सब के, देखो आज इस क्षण में ।।

सभी घर यह घड़ी आवे, यह शुभदिन आज आया है ।।देव०।।

(२)

हुये सब धन्य नर-नारी, दर्श मुनिराज के पा कर ।

जगाई धर्म की ज्योति, यहां गुरुदेव ने आकर ।।

भक्तगण शीष सब नाओ, यह शुभदिन आज आया है ।।देव०।।

(३)

लिया आहार गुरुवर ने, जो कि प्रासुक बनाया था ।

नहिं तन पुष्ट करने को, जो कि सात्विक कहाया था ।।

शांति-सुख प्राप्त करने को, यह शुभ दिन आज आया है ।।देव०।।

(४)

दिगम्बर-वेश धारी हैं, नहिं किंचित्-विकारी हैं ।

लीन तप-ध्यान में रहते, ज्ञान के पुंज भारी हैं ।।

स्वपर कल्याण करने को, यह शुभदिन आज आया है ।।देव०।।

——❀——

(भजन-क्रमांक १८)

श्री पुष्पदन्त-भगवान विनय यह मेरी ।
तुम दया करो हे नाथ ! शरण ली तेरी ।।ध्रुव।।

(१)

मैं दुखी आपकी चरण-शरण में आया ।
तुम नाम अनेक प्रकार शास्त्र में गाया ।।
गुण गावत गणधर-आदि पार नहीं पाया ।
रख लो दुखिया की लाज, विश्वपति-राया ।।
मैं क्या गुण करूँ बखान, अल्पमति मेरी ।।तुम०।।

(२)

है सुविधि-नाथ भी नाम आपका स्वामी ।
हो वीतराग-सर्वज्ञ, सकल-जग नामी ।।
मैं महापतित-मतिमंद, कुटिल-खल कामी ।
मोहि कीजे नाथ ! पवित्र, जान अनुगामी ।।
दो कर्मनाश की शक्ति, मिटे भव-फेरी ।।तुम०।

(३)

इस जग में बारम्बार महा दुख पाया ।
लख चौरासी में, भटक-भटक घबराया ।।
अति दुखित हुआ तब, शरण तिहारी आया ।
प्रभु हो अनाथ के नाथ, फसा जम-माया ।।
माया को करदो दूर, करो मत देरी ।।तुम०।।

(४)

मैं किसे सुनाऊँ कथा आपने मन की ।
दीखा नहिं कोई सहाय, छोड़ प्रभुवर की ।।
मैं कब तक करूँ बखान, व्यथा तन-मन की ।
तुम सब जानत हो पीर, जगत जन-जन की ।।
अति आकुल हो, आ पड़ा चरण में तेरी ।।तुम०।।

———❀———

(भजन-क्रमांक १६)

हे जिनवाणी-माता ! आतम-गुण प्रकटाइये ।
सरस्वति-माता ! आतम-गुण प्रकटाइये ।।ध्रुव।।

(१)

मिथ्यातम के वशीभूत हो, काल-अनादि घूमा ।
सम्यग्दर्शन हुआ न अब तक, चरण आपके चूमा ।।हे०।।

(२)

मेरी इच्छा सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चरित समझाओ ।
इनसे होवेगा आत्मिक-सुख, भेदज्ञान प्रकटाओ ।।हे०।।

(३)

लीन होऊँ मैं आतम-रूप में, ज्ञान-चेतना जागे ।
तेरे कारण से ही माता ! भव्यों के दुख भागे ।।हे०।।

(४)

अब अवसर है मुझ-आतम का, अन्तरात्म होने का ।
अन्तरात्मा होके माता ! परमातम होने का ।।हे०।।

(५)

द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से, अरहंतों को जानूँ ।
फिर तुम से ही निज-आतम को, जान परम-सुख ठानूँ ।हे०।

(६)

भूल अनेक हुई है माता ! समझ सुपुत्र भुलाओ ।
तुम जग-कल्याणी माता हो, सौख्य-सुधा सरसाओ ।।हे०।।

(७)

पंच परावर्तन में माता ! मोह महान्दुख दीना ।
तेरा सुयश श्रवण कर माता ! शरण आपकी लीना ।।हे०।।

(८)

सब जग में जयवन्तो माता ! मोक्ष-मार्ग दिखलाने ।
सुख-स्वरूप 'शीतल' जो आतम, दुख से पिंड छुड़ाने ।।हे०।।

भजन क्रमांक २०

हुये आदि सागर महाराज हैं, जो परम्परा आचार्य थे ।
महावीर-कीर्ति के गुरु थे, कर गये स्व-पट्टाचार्य थे ।।ध्रुव।।

(१)

प्राय: रहते थे जंगल में, ध्यान बहुत करते निज-हेतु ।
आते थे कभी भोज ग्राम में, आहार-चर्या के ही हेतु ।
होता कभी-कभी आहार था, सूरि शांतिसागरजी के घर पर ।हुये०।

(२)

रह जाते थे भोजग्राम में, कभी-कभी के दिन अरु रात ।
दूकान शांति सागर जी की, में ही रहते दिन अरु रात ।
सोते शांतिसागर उन साथ थे, जब गृहस्थ-अवस्था धारी थे ।हुये०।

(३)

अंकली-ग्राम में जन्म हुआ था, अंकली कर कहलाये हैं ।
शांतिसागर जो हुये आचार्य, इन से भी ये पुराने हैं ।
ये महा तपस्वी-साधु थे, करते सात-सात उपवास थे ।हुये०।।

(४)

जीवन-भर यह नियम रहा था, सात-सात उपवास का ।
भोजन में वे लेते वस्तु, एक ही एक कमाल था ।
देखो चारित्र चक्रवर्ती भाइयों ! लिखा पृष्ठ सु इकतालीस में ।हुये०।

(५)

तृतीय-पट्टाधीश उन्हीं के, सूरि हैं सन्मति-सागरजी ।
देखो ! कैसे महा तपस्वी, ज्ञानी ध्यानी मुनिवर जी ।
ये करते बहुत उपवास हैं, देते 'शीतल' ये धर्म-उपदेश हैं ।।हुये०।।

सुक्ख समझो भाइयों !

(१)

आप हम-सब चाहते सुख, और डरते दुक्ख से ।
अतः सुख कैसे मिले ? क्या सुक्ख समझें ध्यान से ।।
जो भी समझा इस-विषय में, हमने अपने ज्ञान से ।
वही समझाते हैं भव्यों ! समझो अपने ज्ञान से ।।

(२)

सुक्ख की करने से इच्छा, सुख न मिलता भाइयों !
रटन 'सुख हो सुख' लगाने, से न मिलता भाइयों !
काम दुख के हम करें, फिर सुख मिले क्यों भाइयों ।
काम सुख के हम करें तो, सुख मिलेगा भाइयों ।।

(३)

मिश्री चाहे मुख न होता, मिष्ट देखो भाइयों ।
'मिश्री मिश्री' कहे से भी, मुख न मीठा भाइयों ।।
प्राप्त कर मिश्री रखें मुख, मिष्ट होवे भाइयों ।
इस तरह से सुख मिलेगा, सोचो समझो भाइयों ।।

(४)

प्राप्त कर लें सुक्ख हम सब, हित इसी में भाइयों ।
नाश कर दें दुक्ख हम सब, हित इसी में भाइयों ।
आतमा सुख का निधि है, प्राप्त कर लो भाइयों ।
छोड़ आकुलता, निराकुलता ही सुख है भाइयों ।।

(५)

समझ लें संसार को, सच-सुख मिलेगा भाइयों ।
समझ लें निज-काय को, सच-सुख मिलेगा भाइयों ।।

समझ लें भव-भोग को, सच-सुख मिलेगा भाइयों ।
होयगा वैराग्य तब ही, सुख मिलेगा भाइयों ।।

(६)

समझ लें छह–द्रव्य हम सब, सुख मिलेगा भाइयों ।
समझ लें हम तत्त्व-सातों, सुख मिलेगा भाइयों ।।

अस्तिकाय–पदार्थ समझें, सुख मिलेगा भाइयों ।
समझें हेय-अहेय को भी, सुख मिलेगा भाइयों ।।

(७)

छोड़ दो संकल्प अरु, विकल्प सब ही भाइयों ।
त्याग दो सब मोह-माया, और ममता भाइयों ।।

करो श्रद्धा स्वात्म की, ज्ञाता रहो हे भाइयों ।
इस तरह 'शीतल' मिलेगा, सुक्ख समझो भाइयों ।।

बड़े भाग्य से नरतन पाया,
खोना इसको व्यर्थ नहीं ।
धर्म-मार्ग पर डटे रहो तुम,
धर्म बिना उद्धार नहीं ।।

तीन आध्यात्मिक छन्द

(१)

जो चाहता है धर्म करना, जो कि सुख की खान है ।
पहिचानना पहिले उसे, निज आतमा गुणवान है ।।

धर्म का सम्बन्ध वास्तव में, निज आतम से रहा ।
अतएव कोटि प्रयत्न से, समझो निज आतम जिन कहा ।।

(२)

यदि चाह ही है धर्म करने की, तुझे हे आत्मन् ।
धर्म तेरा जानना है, जानने में रह मगन ।।

जानने वाला सदा से, है, रहेगा तू सदा ।
जानने में रह मगन, आनन्द हो फिर सर्वदा ।।

हैं अनन्तानन्त–आतमें, इस जगत में सर्वदा ।
नित्य रहते शुद्ध ज्ञायक, धर्म यह शाश्वत सदा ।।

तू भी उनमें एक-आतम, शुद्ध ज्ञायक ही तो है ।
हो मगन उसमें सदा, आनन्द ही आनन्द है ।।

———❀———

आतम-सम्बोधन

आतम ही सम्यग्दृष्टी है, आतम ही सम्यग्ज्ञानी ।
आतम ही सम्यक्चारित्री, आतम ही निर्मल-ध्यानी ।।
वन्दक-वन्दनीय आतम ही, आराधक-आराध्य है ।
ध्याता-ध्यान-ध्येय आतम ही, परमतत्त्व भी आतम है ।।

मंगल भी निज-आतम ही है, लोकोत्तम भी निज-आतम ।
परमशरण भी निज आतम है, परमेष्ठी भी निज आतम ।।
सब देवों का देव आतमा, गुरुओं का गुरु आतम है ।
सब तीर्थों का तीर्थ आतमा, आतम ही तीर्थंकर है ।।

निज-आतम ही कल्पवृक्ष है, निज आतम चिंतामणि है ।
निज आतम ही कामधेनु है, निज आतम [illegible] है ।
सब शास्त्रों का सार आतमा, आतम ही [illegible] है ।
आतम ही [illegible], आतम ही जिन-ईश्वर है ।।

आतम ही केवल-दृष्टा है, आतम ही केवलज्ञानी ।
आतम नित्य-निराकुल सुखमय, आतम ही सम्यक्ध्यानी ।।
आतम ही [illegible] है, आतम ही [illegible] ।
आतम ही [illegible] है, आतम ही [illegible] ।

(५)

जन्म मरण से रहित आतमा, निज पर ज्ञायक आतम ही ।
सदा अनन्त शक्तिमय आतम, नित्य-निरंजन आतम ही ।।
शुद्ध-चिदानन्द आतम ही है, आनन्दघन भी है आतम ।
निर्मल-जप-तप आतम ही है, आत्मिक-सुख भी निज आतम ।।

(६)

आतम अनुभव-रस का प्याला, आतम ही निर्मल-व्रत है ।
आतम ही आवश्यक मित्रों ! आतम शीतल-समरस है ।।
नित्य सिद्ध स्वभावी आतम, नित्य शुद्ध स्वभावी है ।
नित्य सब विकल्प रहित भी, शांत-स्वभावी शीतल है ।।

(७)

तू ही सम्यग्दृष्टी आतम ! तू ही सम्यग्ज्ञानी है ।
तू ही नित सम्यक्-चारित्री, तू ही निर्मल-ध्यानी है ।।
तू ही वंदक-वंदनीय है, आराधक-आराध्य है ।
तू ही ध्याता-ध्यान ध्येय है, परमतत्व भी तू ही है ।।

(८)

मंगल भी तू ही है आतम ! लोकोत्तम भी तू ही है ।
परमशरण भी तू ही आतम ! परमेष्ठी भी तू ही है ।।
सब देवों का देव तू ही है, गुरुओं का गुरु तू ही है ।
सब तीर्थों का तीर्थ तू ही है, तीर्थंकर भी तू ही है ।।

(९)

तू ही आतम कल्पवृक्ष है, चिन्तामणि भी तू ही है ।
तू ही आतम कामधेनु है, परमामृत भी तू ही है ।।
सब शास्त्रों का सार तू ही है, परमातम भी तू ही है ।
तू ही तो भगवान कहाता, ईश्वर-जिनवर तू ही है ।।

(१०)

तू ही आतम ! केवल द्रष्टा, तू ही केवलज्ञानी है।
तू ही नित्य निराकुल सुखमय, तू ही सम्यक् ध्यानी है।।
तू ही आतम परमानन्दी, तू ही ज्ञानानन्दी है।
तू ही आतम ! नित्यानन्दी, तू ही सहजानन्दी है।।

(११)

जन्म-मरण से रहित तू ही है, निज पर का ज्ञायक तू ही।
सदा अनन्त शक्तिमय तू है, नित्य-निरंजन भी तू ही ।।
तू ही आतम ! शुद्ध-चिदानन्द, आनन्दघन भी तू ही है।
तू ही आतम ! निर्मल जप-तप, आत्मिक सुख भी तू ही है।।

(१२)

तू ही अनुभव-रस का प्याला, तू ही तो निर्मल-व्रत है।
तू ही षट्-आवश्यक आतम ! तू ही शीतल समरस है।।
तू ही आतम ! सिद्ध-स्वभावी, तू ही शुद्ध-स्वभावी है।
तू ही सर्व-विकल्प रहित भी, 'शीतल' शान्त-स्वभावी है।।

(१३)

हे आत्मन् ! नय-पक्षपात तज,
अरु विकल्प के जाल को।
स्व-स्वरूप में पूर्ण मग्न हो,
करले अमृत-पान को।।

——❀——

कल्याणकारी दोहे

दुखी हुये श्री होयके, आतम-ज्ञान सज्ञान ।
अत: आत्मन्! आतम को, आतम से पहिचान ॥

(२)

ज्ञान स्वभावी आतमा, आतम-स्वभावी ज्ञान ।
ज्ञान आतमा दो नहीं, [illegible] ॥

आतम ही परमातमा, आतम ही भगवान ।
आतम ही ईश्वर कहा, सर्व गुणों की खान ॥

(४)

परम ब्रह्म ही आतमा, परमतत्व भी आतम ।
देवों का भी देव है, योगिगम्य भी आतम ॥

(५)

आतम अरु परमातम में, मात्र दृष्टि का भेद ।
बदल लेय यदि दृष्टि तो, नहिं भेद नहिं खेद ॥

(६)

सब आतम परमातमा, रहे जगत में मित्र ।
भेद-ज्ञान से आतमा, जग में होय पवित्र ॥

(७)

मानव जीवन पाय के, स्वातम में रम जीव ।
यदि अब भी पर में रमा, सुख पावे नीव दक ॥

समयसार के पठन से, सबको होवे शांति ।
(१)
स्वातम का विज्ञान हो, संशय रहे न भ्रांति ।।

जीवन भर पढ़ते रहो, समयसार को मित्र ।
(२)
सुनो सुनाते भी रहो, आतम होय पवित्र ।।

समयसार के मनन से, आकुलता नश जाय ।
आकुलता के नाश से, अविनाशी-पद पाय ।।

पढ़ना समयसार का, सर्वश्रेष्ठ है मित्र ।
सच्चरित्र-मुनिराज को, करता पूर्ण पवित्र ।।

स्वशुद्धातम लीनता, आतम ज्ञान से प्रीति ।
(५)
राग-द्वेष नहिं ज्ञेय से, यही मोक्ष की रीति ।।

भासे ज्ञान रु ज्ञेय जब, अलग-अलग निज रूप ।
नित्य-निराकुल जीव तब, सुख-सागर का भूप ।।

---✿---

पांच आध्यात्मिक छन्द

(१)

हुये, हो रहे, होवेंगे ये, रागादिक-विभाव जो भाव ।
टिकते नहीं एक क्षणभर भी, मैं अखण्ड-ज्ञायक इक भाव ।।

(२)

की नहीं, करते, करो न चेष्टा, स्व-स्वभाव में रहते आत्म ।
वीर-प्रभु की इस शिक्षा पर, देओ ध्यान तनिक हे आत्म ।।

(३)

सोचा, सोच रहा, सोचूँगा, यह अनादि की भूल-महान् ।
तुमतो इक अखण्ड-ज्ञायक हो, वीर-प्रभु की सीख महान् ।।

(४)

बोला, बोल रहा, बोलूँगा, जब तक यह अज्ञान-महान् ।
तब-तक भव-भव में भटकोगे, हो पाओगे नहीं सुजान ।।

(५)

मैं अत्यन्त-भिन्न काया से, क्योंकि क्रिया दोनों की अलग ।
हूँ अखण्ड चेतन ज्ञायक मैं, काया में जड़ रूप झलक ।।

चार शिक्षाप्रद पद्य

(१)

मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ?, इस पर ध्यान देना चाहिये ।
आतमा हूँ, शुद्ध ज्ञाता, समझ लेना चाहिये ।।

(२)
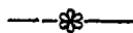
मैं कौन हूँ ? शुद्धात्मा, कैसा हूँ ? ज्ञान-स्वरूप हूँ ।
है काम क्या ? नित-जानना, मैं ही सदानंद-रूप हूँ ।।

(३)

मैं ज्ञान-लक्षण आतमा, जिसने भी यह समझा सही ।
इस लोक में रहते हुये, वह दुक्ख पाता है नही ।।

(४)

हम चाहते है पुण्य का फल, पुण्य-कर्म न चाहते ।
हम चाहते नहि पाप का फल, पाप निशिदिन धारते ।।

—-❀—

पांच उपयोगी दोहे

(१)

जो जाने वह जीव है, जो देखे वह जीव ।
जो माने वह जीव है, जो समझे वह जीव ।।

(२)

जाने केवल जीव ही, देखे केवल जीव ।
माने केवल जीव ही, समझे केवल जीव ।।

(३)

मैं वह तुम सब जीव हैं, कहने वाला जीव ।
सुनने वाला जीव है- निज-पर ज्ञायक जीव ।।

(४)

जीव कहो या आतमा, चित् चेतना विशुद्ध ।
चेतन चैतन्य भी, मैं हूं सदा अबुद्ध ।।

(५)

भेद-दृष्टि को गौणकर, जो अभेद में लीन ।
रमते जीव-स्वभाव में, वे ही पूर्ण-प्रवीण ।।

जय हो न हो !

(१)

प्रथम तो है चाह-इच्छा ही बुरी संसार में,
यदि करें तो धरें संयम, सुख मिले संसार में ।
सुक्ख का यह सरल-साधन, लोक अरु परलोक में,
कीर्ति हो अकीर्ति हटकर, रख लो अपने ध्यान में ।।

(२)

चाह कीर्ति की करें, पर कार्य कीर्ति के नहीं,
कार्य कीर्ति के नहि तो, हो अकीर्ति है सही ।
भय अकीर्ति का सभी को, चाहे नर या नारि हो,
भय मिटाना है जरूरी, चाहे फिर जय हो न हो ।।

—*—

—: निज उद्धार करो :—

(१)

हृदय शुद्ध हो, वचन शुद्ध हो, काय शुद्ध हो कार्य सभी ।
चारों ही यदि सदा शुद्ध हों, दुख पाओगे नहिं कभी ॥

(२)

हृदय शुद्ध नहिं, वचन शुद्ध नहिं, काय शुद्ध नहिं, कार्य नहीं ।
चारों में यदि एक शुद्ध नहिं, सुख पाओगे कभी नहीं ॥

(३)

हृदय शुद्ध करना चाहो तो, भगवत्-भक्ति करो प्रतिदिन ।
वचन शुद्ध करना चाहो तो, सत्य-वचन बोलो निशिदिन ॥

(४)

काय शुद्ध करना चाहो तो, करो तीर्थ-यात्रा मुनि-दान ।
कार्य शुद्ध करना चाहो तो, करो नहिं किंचित् अभिमान ॥

(५)

इस प्रकार कर शुद्ध सभी को, निज-पर का कल्याण करो ।
फिर केवल ज्ञाता-द्रष्टा रह, 'शीतल' निज-उद्धार करो ॥

—: अन्तरात्मा: एक अनुशीलन :—

हम सभी संसारी–जीवात्मा, अनादिकाल से, सुख-शांति की कामना करते आये हैं और यह कामना तब तक बनी ही रहेगी कि जब तक हम पूर्ण-सुखी नहीं हो जायेंगे। सुख की कामना इसलिये करते आये हैं कि हम लोग अनेक प्रकार के दु:खों से आक्रान्त होकर, आगामी कष्टों से भयभीत हैं। अन्तरात्मा को समझे बिना, दु:खों का निवारण एवं सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः आइये! ऋषभादि महावीर-स्वामी पर्यन्त, चौबीस-तीर्थङ्करों ने जो इस संबंध में अपनी दिव्य–देशना द्वारा उद्घोष किया है और उसे जो हमारे दिगम्बराचार्यों ने प्रस्तुत किया है उसे यहां संक्षेप में समझने का प्रयत्न करें।

हां तो देखिये! 'अन्तर' और 'आत्मा' इन दो शब्दों के मेल से, 'अन्तरात्मा' यह शब्द बना है। अन्तर में, भीतर में, स्वयं में, अपने त्रिकाली ज्ञायक-स्वभाव में, जो श्रद्धा रखने वाला है, अपने को ज्ञायक जानने और अनुभव करने वाला है, वह आत्मा ही अन्त-रात्मा है। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि जो भेद-विज्ञानी (अपने को भावकर्म, द्रव्यकर्म, और नोकर्म–शरीरादि से भिन्न सम-झने वाला, स्व को स्व और पर को पर मानने वाला, अन्तरंग-बहि-रंग परिग्रह या चेतन, अचेतन और मिश्र इन तीन प्रकार के परिग्रह में मूर्च्छा रहित) आत्मा है, वही अन्तरात्मा है।

महर्षि–कुन्दकुन्द विरचित मोक्ष–प्राभृत गाथा पांच में उल्लेख है—

"अक्खाणि बाहिरप्पा अन्तर अप्पा हु अप्प-संकप्पो" अर्थात् जो स्पर्शनादि-इन्द्रियों और उनके विषयों (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द) में प्रवृत्ति करता है, उनमें आत्मपने का संकल्प करता है, वह तो बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि, अज्ञान-चेतना वाला आत्मा) है और जो अपने ज्ञायक-स्वभाव में प्रवृत्ति करता है अर्थात् मैं मात्र ज्ञायक-जानने वाला हूं, सभी पदार्थ व उनको क्रियायें मात्र मेरे ज्ञान में आ रही हैं ऐसी श्रद्धा व अनुभव करने वाला है, वह अन्तरात्मा है।

उक्त महर्षि रचित ही नियमसार-महाशास्त्र गाथा १४९ में भी लिखा है—

"आवासएण जुत्तो,[1] समणो सो होदि अन्तरंगप्पा" अर्थात् जो अपने आवश्यकों में लगा हुआ है, वह श्रमण-दिगम्बर सन्त, अन्तरात्मा है।

आगे उसी महाशास्त्र-नियमसार गाथा १५० में समझाया है-

"जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अन्तरंगप्पा" अर्थात् जो जीवात्मा, जल्पों-विकल्पों (राग-द्वेषादि) से रहित है, वह अन्तरात्मा है। आगे गाथा १५१ की प्रथम-पंक्ति में भी अन्तरात्मा के विषय में समझाया है कि—

"जो धम्म-सुक्कं-झाणम्हि, परिणदो सोवि अन्तरंगप्पा"

---

१. 'समता सम्हारैं थुति उचारैं, वंदना जिनदेव को।
नित करैं श्रुतिरति करें प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को।।
—छहढाला छठी ढाल

अर्थात् जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है, वह भी अन्तरात्मा है।

अन्तरात्मा के सम्बन्ध में जो ज्ञानसार श्लोक ३१ में उल्लेख है वह भी ध्यान देने योग्य है—

"धर्म-ध्यानं ध्यायति, दर्शन-ज्ञानयोः परिणतः नित्यम्।
स भण्यते अन्तरात्मा, लक्ष्यते ज्ञान-वन्द्विः ॥"

अर्थात् जो धर्मध्यान (आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक विचय और संस्थान-विचय) को ध्याता है, नित्य ही दर्शन और ज्ञान से परिणत रहता है, वह ज्ञानियों के द्वारा अन्तरात्मा कहा गया है।

इस सम्बन्ध में रयणसार शास्त्र में जो कथन है वह भी मनन करने योग्य है—

सिवणे वि ण भुंजइ, विसयाइं देहाइ–भिण्ण–भावमई।
भुंजइ णियप्परूवो, सिव–सुह–रत्तोवु मज्झिमप्पो सो॥१४१॥

अर्थात् शरीर आदि से अपने को भिन्न अलग समझने वाला जो व्यक्ति, स्वप्न में भी विषयों को नहीं भोगता, परन्तु जो निजात्मा को ही भोगता–अनुभव करता है तथा शिवसुख में संलग्न रहता है, वह मध्यम-अन्तरात्मा है।

"अट्ठ-कम्मब्भंतरोत्ति अंतरप्पा" ऐसा धवल (१।१, १,२। १२०।५) में उल्लेख है। अर्थात् जो अष्ट-कर्मों के भीतर रहता है इसलिए अन्तरात्मा है।

इस विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १९४ भी ध्यान देने योग्य है—

"जो जिण-वयणे कुसला; भेयं जाणंति जीव-देहाणं।
णिज्जिय दुट्ठट्ठ-मया, अंतर-अप्पा य ते तिविहा ।।"

अर्थात् जो व्यक्ति जिन-वचनों में कुशल हैं, जीव और शरीर के भेद को जानते हैं और जिन्होंने आठ दुष्ट-मदों को जीत लिया है, वे अन्तरात्मा हैं तथा वे तीन प्रकार के हैं।

परमात्म-प्रकाश, जो कि श्रीयोगिन्दुदेव विरचित है, उसके प्रथम अध्याय की गाथा १४ में, अन्तरात्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचन है—

"देह-विभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ।
परम-समाहि परिट्ठयउ, पंडिउ सो जि हवेइ ।।"

अर्थात् जो व्यक्ति, परमात्मा को शरीर से अलग, केवलज्ञान से परिपूर्ण जानता है, वही परम-ध्यान में स्थिर हुआ, विवेकी या अन्तरात्मा है।

श्रीमद् योगीन्द्रदेव ने ही जो योगसार गाथा ८ में अन्तरात्मा के विषय में उल्लेख किया है वह भी ध्यान देने योग्य है—

"जो परियाणइ अप्प परु, जो पर-भाव चएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहु, सो संसार मुएइ ।।"

अर्थात् जो स्वयं आत्मा को उत्कृष्ट जानकर, परभाव-रागद्वेष का त्याग करता हैं, वह आत्मा ही पंडित-अन्तरात्मा है और ऐसा अन्तरात्मा जन्म-मरण रूप संसार से, मुक्त होकर, परमात्मा होता है।

अब अन्तरात्मा के तीन भेद और लक्षण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

द्रव्य-संग्रह शास्त्र की गाथा १४ की संस्कृत-टीका में समझाया है—

'अविरत-गुणस्थाने तद्योग्याऽशुभलेश्यापरिणतो जघन्याऽन्तरात्मा, क्षीणकषाय-गुणस्थाने पुनरुत्कृष्ट; अविरत-क्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः।'' अर्थात् अविरत-नामक चौथे गुणस्थान उसके योग्य अशुभ-लेश्या से परिणत 'जघन्य-अन्तरात्मा' है, और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुण स्थान में, 'उत्कृष्ट अन्तरात्मा' है। अविरत और क्षीणकषाय गुण स्थानों के मध्य में जो पांचवें से ग्यारहवें तक सात गुण स्थान हैं, सो इनमें 'मध्यम-अन्तरात्मा' है।

स्वामी-कार्तिकेयानुप्रेक्षा में, अन्तरात्मा के भेदों का विवेचन इस प्रकार है—

''पंच-महव्वय-जुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।
णिज्जिय-सयल-पमाया, उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥१९५॥

सावय-गुणेहिं-जुत्ता, पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति।
जिण-वयणे अणुरत्ता, उवसम-सीला महासत्ता ॥१९६॥

अविरय–सम्माइट्ठी, होंति जहण्णा जिणिंद–पय–भत्ता।
अप्पाणं णिंदत्ता, गुण–गहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥१९७॥

अर्थात् जो व्यक्ति पांचों-महाव्रतों से युक्त होते हैं, धर्म-ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान में सदा लीन रहते हैं एवं जो सकल-प्रमादों को जीत लेते हैं वे 'उत्कृष्ट अन्तरात्मा' हैं ॥१९५॥

श्रावक के बारह-व्रतों को पालने वाले गृहस्थ और छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान वाले मुनि 'मध्यम-अन्तरात्मा' हैं। ये जिन-वचन में अनुरक्त रहते हैं, उपशम-स्वभाव वाले होते हैं तथा महा-पराक्रमी होते हैं ॥१९६॥

जो जीवात्मा अविरत-सम्यग्दृष्टि हैं, वे 'जघन्य-अन्तरात्मा' हैं। वे जिनेंद्र-भगवान के चरणों के भक्त होते हैं, स्वयं के दोषों की निंदा करते रहते हैं एवं गुणों को ग्रहण करने में अति अनुरागी होते हैं ॥१९७॥

समाधि-तंत्र जो कि पूज्यापादाचार्य रचित हैं, उसके श्लोक संख्या चार की टीका में आया है--अन्तरात्मा के तीन भेद हैं, उत्तम, मध्यम, जघन्य। अंतरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग करने वाले, विषय कषायों को जीतने वाले और शुद्धोपयोग में लीन रहने वाले, तत्वज्ञानी योगीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' कहलाते हैं। देशव्रतों का पालन करने वाले गृहस्थ तथा छठे गुणस्थान-वर्ती मुनि 'मध्यम-अन्तरात्मा' कहे जाते हैं और तत्व-श्रद्धा के साथ व्रतों को न रखने वाले-अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव, 'जघन्य-अन्तरात्मा' के रूप से निर्दिष्ट हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य रचित नियमसार महाशास्त्र की गाथा संख्या १४९ की टीका में, इस विषय को इस प्रकार बतलाया गया है—

'जघन्य-मध्यमोत्कृष्ट–भेदादविरतः सुद्दक् ।
प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो, मध्यमो मध्यमस्तयोः' ।

अर्थात् उस अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं। अविरत-सम्यग्दृष्टि वह प्रथम जघन्य-अन्तरात्मा है। क्षीण मोह अन्तिम अन्तरात्मा है अर्थात् उत्कृष्ट-अन्तरात्मा है और इन दो के मध्य–बीच में स्थित 'मध्यम-अन्तरात्मा' है।

कविवर दौलतरामजी रचित छहढाला की तीसरी ढाल में भी इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'उत्तम-मध्यम जघन त्रिविध के, अन्तर आतम-ज्ञानी ।
द्विविध संग बिन शुध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी ।।

मध्यम अन्तर आतम हैं जे, देशव्रती–अनगारी ।
जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिव–मगचारी ।।'

अर्थात् उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से अन्तरात्मा, तीन प्रकार का है। दोनों परिग्रह (अन्तरंग, बहिरंग) से रहित शुद्धोपयोगी मुनिराज जो निजात्मा के ध्यानी हैं वे उत्तम-अन्तरात्मा हैं। पांचवें गुणस्थानवर्ती देशव्रती-श्रावक और छट्ठे गुणस्थान वाले अनगारी-गृह त्यागी मुनिराज, मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा अविरत–सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान वाले जघन्य–अन्तरात्मा हैं तथा ये तीनों ही प्रकार के अन्तरात्मा, नियम से मोक्षमार्ग में लगे रहने से, मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं।

वास्तव में हम संसारी जीवात्मा, अनादि काल से आत्मा के तीन[1] भेदों में से प्रथम बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) ही बने हुये हैं। हमारी आत्मा में अन्तरात्मा होकर परमात्मा होने की भी सामर्थ्य है। अतः जब तक हम 'परमात्मा' (तीसरे भेद स्वरूप) नहीं हो जायेंगे तब-तक दुखी ही रहेंगे। परमात्मा होने की मुख्य सीढ़ी, पहले अन्तरात्मा होना है। अतः उक्त-विषय को समझ कर सर्व-प्रथम बहिरात्म-पने से हटकर, अन्तरात्मा बनें। यदि हम क्षणमात्र के लिये भी अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) हो गये तो फिर इस पंच-परिवर्तन-रूप संसार में, 'अर्ध-पुद्गल-परावर्तन काल' से अधिक, जन्म-मरण नहीं कर सकते। एक दिन नियम से परमात्मा (भगवान्, देवाधिदेव ईश्वर) हो ही जायेंगे और ऐसे हो जाने पर फिर अनन्तकाल के लिये आनन्द ही आनन्द, सुख ही सुख, शांति ही शांति, निराकुलता ही निराकुलता का अनुभव करेंगे। किंचित् मात्र भी किसी प्रकार की, सदा-सदा के लिये कोई भी आकुलता नहीं रहेगी। इत्यलम्।

□□

---

१. "बहिरन्तः परश्चेति, त्रिधात्मा सर्व-देहिषु" अर्थात् सम्पूर्ण देह-धारियों में, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार तीन प्रकार का आत्मा है।

—आचार्य पूज्यपाद

आशा : क्या, क्यों और कैसे ?

आशा कहो या आकांक्षा, इच्छा कहो या स्पृहा, तृष्णा कहो या वांछा, लोभ कहो या लालच, लालसा कहो या ईहा अथवा अभिलाषा, ये सब आशा के ही पर्यायवाची शब्द हैं, जो लगभग एक ही अर्थ को सूचित करने वाले हैं।

जिनवाणी संग्रह में कितना सुन्दर लिखा है—

"आशा-पाश महा दुख दानी,
सुख पावे संतोषी प्राणी"

अर्थात् आशा (इच्छा) तोषी रूपी बन्धन, महान्-दुःखों को देने वाला है और इसके विपरीत जो संतोषी प्राणी है वह सर्व-प्रकार के सुख प्राप्त करता है।

एक जगह एक आचार्य श्री ने उल्लेख किया है—

"इच्छति शती सहस्रं, सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाधिपस्तथा राज्यं, राज्यस्थः स्वर्गमीहते ॥"

अर्थात् जिसके पास सौ रुपये हैं वह हजार चाहता है, जिसके पास हजार रुपये हैं वह लखपती होना चाहता है, लक्षाधिपति राज्य को (करोड़ों की संपदा को) चाहता है और जो राजा महाराजा है वह स्वर्ग को चाहता है।

इसी का लगभग सुन्दर-सवैया सुन्दर-कवि ने बनाया है जो इस प्रकार स्मरणीय है—

"जो दस बीस पचास भये ,
शत होय हजारन जाग मगेजी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य ,
पृथ्वी-पति होने की चाह जगेजी ॥
स्वर्ग-पताल को राज्य करों,
तृष्णा अधिकी अति आग लगेजी।
सुन्दर एक संतोष बिना,
शठ तेरी तो भूख कभी न भगेगी ॥

इसका अर्थ अति सरल है, जो कि सहज ही सबकी समझ में आता है।

आत्मानुशासन में श्रीगुणभद्राचार्य ने लिखा है—

"आशागर्तः प्रतिप्राणी, यस्मिन् विश्वमणुपमं ।
कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिताः ।"

अर्थात् विश्व के प्रत्येक प्राणी का आशा रूपी गड्ढा इतना गहरा है कि उसमें त्रिलोकी की सभी सम्पदा भी भरी जाय तो भी विश्व अणु की ही उपमा को धारण करेगा। अतः सांसारिक-पदार्थों की इच्छा करने में कोई सार नहीं है।

"का भववल्ली ? तृष्णा" ऐसा प्रश्नोत्तर-मालिका में आचार्य श्री ने लिखकर यह प्रकट किया है कि आशा-तृष्णा ही संसार (आकुलता) को बढ़ाने वाली है।

जब पुण्य के बिना इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तो व्यर्थ में ही पर वस्तु की आशा करके क्यों पापास्रव करना ? एक कविने कितना मार्मिक उल्लेख किया है—

"पुण्य बिना नहि पाइये, भली वस्तु का योग।
दाख पके जब काग के, होत कंठ में रोग।"

तृष्णा के विषय में एक महर्षि ने लिखा है—

बलिभिर्मुखमाक्रान्तं, पलितैरंकितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते, तृष्णैका तरुणायते॥
१४॥ वै० श०

अर्थात् झुरियों से मुख घिरा हुआ है, शिर के सभी बाल सफेद हो गये हैं, सभी अंग जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं परन्तु आश्चर्य है कि मानव की तृष्णा, बढ़ती हुई तरुण-पने को ही प्राप्त होती है। अर्थात् तृष्णा घटने के बजाय बढ़ती ही है। इसी कारण रत्नाकर-पंचविंशतिका का शुद्ध-हिन्दी-पद्यानुवाद करते हुए एक जगह कवि ने जो लिखा है वह ध्यान देने योग्य है—

"हा ! नित्य घटती आयु है, पर पापमति घटती नहीं।
आया बुढ़ापा पर विषय से, कामना हटती नहीं॥"

इसका अर्थ सबके समझने योग्य सरल है ही।

इस सम्बन्ध में शुभचन्द्राचार्य ने जो ज्ञानार्णव-महाशास्त्र में उल्लेख किया है, वह भी स्मरणीय है—

"उदधिरुदकपूरै, रिन्धनैश्चित्रभानुः
यदि कथमपि देवात्, तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीरी, कामभोगैर्विसंख्यैः,
चिरतरमपि भुक्तै, स्तृप्तिमायाति कश्चित्। २०-२८

अर्थात् यदि कर्मयोग से, किसी प्रकार दुनियाँ के नदी नालों से समुद्र और त्रिलोकी के इन्धन से, अग्नि, तृप्तिको प्राप्त भी हो जाय परन्तु चिरकाल तक भी अनेक प्रकार के काम-भोगों के भोगे जाने पर भी, किसी भी प्राणी की इस संसार में तृप्ति नहीं होती। इसी कारण एक कवि ने कितना हृदय स्पर्शी दोहा लिखा है--

"जो आशा' के दास है, वे हें सब के दास।
आशा जिनकी दास है, सब-जग उनका दास॥"

इस विषय में एक महान प्राचीन नृपति का चिन्तन भी स्मरणीय है—

चेतोहरा युवतयः सुहृदानुकूलाः,
सद्बांधवाः प्रणयगर्वगिरश्च भृत्याः।
वल्गंति दन्ति निवहाश्च पलास्तुरंगाः,
सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति॥"

अर्थात् मेरे अनेकों–स्त्रियां तो मन को हरण करने वाली हैं, मित्र सभी अनुकूल हैं, सद्-बांधव कुटुम्बी हैं, सेवक नम्री-भूत हैं, हाथियों का समूह चिघाड़ रहा है, चपल तुरंग (घोड़े) हैं, ये सब कुछ ठाठ मेरे है, परन्तु दोनों नेत्रों के बन्द होते ही (प्राण–पखेरू के चले जाने पर) यह कुछ भी मेरा नहीं है।

जीव अनादि-काल से स्व के शुद्ध ज्ञाता–द्रष्टा स्वभाव को भूला हुआ है और इसी कारण राग–द्वेषादि रूप परिणत होकर पर को अपनाने की कोशिश, तृष्णा करता है और यही इसके दुख का कारण है।

स्वामी समन्तभद्र ने वृहत्स्वयंभू–स्तोत्र में कितना मार्मिक उल्लेख किया है—

"तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शांतिरासां,
इष्टेंद्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।।८२।।

अर्थात् इन दुनियाँ के प्राणियों को तृष्णा रूपी अग्नि जला रही है। अतः ये दुखी हैं। इष्ट–इन्द्रिय के विषयों की प्राप्ति होने पर भी वह तृष्णाग्नि बढ़ती ही है। एक कवि ने भी लिखा है—

"बिना जरूरत के चीजों का, संग्रह करते हैं तृष्णावश।
मन के लड्डू खाते–खाते, कभी–कभी खो देते सर्वस।

यह तृष्णा का गर्त अभी तक, नहि भर सका है कोई भी।
अतः बन्धुवर तृष्णा नागिनसे भी, कोसों दूर रहो तुम।।

तृष्णा के वशीभूत होकर ही यह मानव जुआ और सट्टा जैसा अधम कार्य करता है। जिसके विषय में एक लोकोक्ति हमारे गुरु आचार्य श्रीमहावीरकीर्तिजी महाराज कहा करते थे—

'न खेलो जुआ, न फांदो कुआ,
'न खेलो सट्टा, न लगाओ कुल में बट्टा।'
घर के लोग करेंगे, हंसी ठट्टा,
जगत के लोग कहेंगे उल्लू का पट्ठा॥'

आशा का ही पर्यायवाची लालच है। इसका एक कवि ने कितना-सुन्दर चित्रण किया है—

"मक्खी बैठी शहद पर, रही पंख फैलाय।
हाथ मले अरु शिर धुने, लालच बुरी बलाय॥"

यद्यपि लालच बुरी बला है पर प्रारम्भ में अशुभ-लालच का ही त्याग किया-कराया जाता है। हां आगे चलकर शुभ–लालच (आकांक्षा) का भी त्याग करना होता है और तभी मोक्ष–पद की प्राप्ति होती है सो ही श्रीअकलंक देव-सूरि ने स्वरूप-सम्बोधन में सूचित किया है कि—

"मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा, स मोक्षमधि गच्छति"

अर्थात् मोक्ष (निर्वाण) के प्रति भी जिसको आकांक्षा नहीं है वही मोक्षअवस्था (पूर्ण निराकुलता) को प्राप्त होता है।

स्वामी-समन्तभद्र ने वृहत्स्वयंभू स्तोत्र में कितना हृदय स्पर्शी कथन किया है—

"त्वया स्वतृष्णा सरिदार्य शोषिता" ॥६८॥

अर्थात् हे भगवान ! आपने, स्वयंमें विभाव-परिणति रूप जो तृष्णा-रूपी नदी थी, उसे सुखा दिया है। अर्थात् आप तृष्णा से रहित होकर पूर्ण-सुखी हो गये हैं।

आगेभी स्वामीजी ने उल्लेख किया है—

"तृष्णा नदी त्वयोत्तीर्णा, विद्यानावा विविक्तया ।"

अर्थात् हे भगवान ! आपने वैराग्य-रूप परिणामों से सम्यग्ज्ञान रूपी नौका द्वारा तृष्णा-रूपी महान-नदीको पार किया है।

वास्तवमें आशा-तृष्णाको तिलांजलि दिये बिना, हम सुखी नहीं हो सकते। सुख हम सब चाहते ही हैं। अतः जिस प्रकार महान आत्माओं ने संसार, शरीर व भोगोंकी वास्तविकताको समझकर, वैराग्यको धारण किया और फिर इसके बलसे सम्यग्ज्ञान रूपी नौका पर सवार होकर तृष्णा-रूपी नदीको पार करके सुखी हुये, उसी प्रकार हमें भी आशा-तृष्णाको छोडकर सुखी होना चाहिये। हम इस प्रसंग में निम्न पंक्तियों को सदैव ध्यान में रक्खें—

"सदा सन्तोष कर प्राणी, यदि सुखसे रहा चाहे ।
घटादे मन की तृष्णाको, यदि दुखसे बचा चाहे ॥

—— ? ——

केशलुञ्चन : क्या और क्यों ?

कोई समय था, जब यह भारत-भूमि, सहस्रों-दिगम्बर जैन साधु-सन्तों की, पदरज से पावन थी। उस समय कोई भी दिन ऐसा अवशेष नहीं रहता था, कि जिस दिन किसी न किसी, मुनि-महात्मा का केशलुञ्चन न हो। आज भी वैसे जन्मजात-शिशु के समान निर्विकार दिगम्बर-मुद्रा को धारण करने वाले, लगभग सवा दो सौ मुनि महात्मा, इस भारत-भूमि में विद्यमान हैं, जो अपने पवित्र आचार-विचार से, स्व-पर का कल्याण कर रहे हैं। वे अपने अन्य मूलगुणों के साथ-साथ, 'केशलुञ्चन' नामक मूलगुण का भी पालन करते हैं। दि० जैन साधु के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं, जैसा कि भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य ने भी लिखा है—

'वदसमिदिंदियरोधो, लोचावासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥'

अर्थात् पंच-महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), पंच-समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग), पंचेंद्रियरोध (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाचों इन्द्रिय-विषय के वशीभूत न होना), केशलुञ्चन, छह-आवश्यक (समताभाव, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग) अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन करना और दिन में एक बार अन्न-जल ग्रहण करना, इस प्रकार साधु परमेष्ठी के अट्ठाईस मूलगुण-(मुख्यगुण) होते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, 'केशलुञ्चन' यह दि० जैन साधु के अट्ठाईस-मूलगुणों में से एक मूलगुण है। कविवर-दौलत-रामजी ने भी लिखा है—

'कचलौंच करत न डरत परीषह, सौं लगे निज ध्यान में।'

मुख्यगुणोंको मूलगुण कहते है। केश और लुंचन इन दो शब्दोंसे मिलकर केशलुञ्चन शब्द बना है। केशका अर्थ है-शरीर में उत्पन्न होने वाले, केश-बाल जिन्हें कचभी कहते हैं, और लुंचन का अर्थ है लौचन करना, उखाडना। इस प्रकार केशलुंचन का अर्थ हुआ 'केश का लौच करना' या केशों का उखाड़ना। वह केशलुञ्चन 'स्वहस्तेन परहस्तेनापि वा लोचः कार्यः' इस आर्ष-वाक्यानुसार स्वयं के हाथसे या दूसरेके हाथसे किया जाता है। हाँ, स्वयंके हाथसे लौच करना उत्कृष्ट-मार्ग है, और दूसरेके हाथसे कराना मध्यम।

'आत्मकल्याणार्थ साधनां करोतीति साधुः' अर्थात् जो दुःखों से सर्वथा दूर होनेके अभिप्रायसे, आत्म-कल्याणके लिए साधना करता है, वह साधु है। यद्यपि केशलौच ऐसे ही साधुका मूलगुण है, फिरभी वह प्रतिदिन नहीं किया जाता, महर्षियोंने उसको निम्न प्रकार व्यवस्था वर्णन की है।

'लोचो द्वित्रि-चतुर्मासै-र्वरोमध्योऽधमः क्रमात्।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः, सोपवास-प्रतिक्रमः।।

अर्थात् केशलौंच (शिर, डाढी और मूछों का लुंचन) दो माह, तीन माह और चार माहमें किया जाता है। जो दो माहमें किया जाता है वह उत्कृष्ट, जो तीन माहमें किया जाता है वह मध्यम और जो चार माहमें किया जाता है वह जघन्य, केशलुंचन है।

केशलुंचन के प्रारम्भ में लघु सिद्ध-भक्ति और लघु योगि-भक्ति पढ़ने का विधान है, तथा समाप्ति पर मात्र लघु सिद्ध-भक्ति पढ़ने का ही विधान है। उस दिन नियम से उपवास अर्थात् विषय-कषाय के साथ चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है। उपवास का शाब्दिक अर्थ है 'निकट में निवास' अर्थात् आत्मा के निकट रहना, आत्म-स्वभाव में तल्लीन रहना। इस प्रकार उपवास पूर्वक, दो तीन व चार माह में उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य केशलुंचन किया जाता है। दो माह में भी जो पंचमुष्ठि लौंच किया जाता है, वही सर्वोत्कृष्ट है, जिसे दीक्षा धारण करते समय, श्रीऋषभादि–महावीर–पर्यन्त चौबीसौं–तीर्थंकरों ने किया था। जो भी व्यक्ति गृहस्थावस्था का त्याग करके दीक्षा धारण करता है, उसे सर्वप्रथम गुरु आज्ञासे केश-लुंचन ही करना होता है।

केशलुंचन, शरीर-निर्मोहता की एक कसौटी या परीक्षा है। जब तक आत्मा शरीर का सेवक बना रहेगा, या यों कहिये कि प्रस-न्नता पूर्वक कष्टों को सहन नहीं करेगा, तब तक वह अपना हित नहीं कर सकता। शरीर से मोह, राग होना ही दु:ख का कारण है। अतः आत्म-हितैषी को कष्ट-सहिष्णु होना अनिवार्य है, और केशलुञ्चन उसकी एक कसौटी है। जो इस कसौटी पर ठीक उतरता है, वह भेद ज्ञान के बल से, भावो को विशुद्ध करता हुआ; भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित होकर; सिद्ध-दशा को प्राप्त कर लेता है।

मुनि-महात्मा के अलावा, आर्यिकायें (साध्वियाँ) जो कि उप-चार से महाव्रती मानी जाती हैं, वे तथा ग्यारह-प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक, जो ऐलक कहलाते हैं, जिनके पिच्छी-कमण्डलु के साथ शरीर पर लंगोट मात्र परिग्रह रहता है, वे भी नियम से केशलौंच ही करते

हैं । आर्यिकाओंका तो उपचारसे महाव्रती होनेके कारण, यह अट्ठाईस मूलगुणों में से एक मूलगुण ही है, परन्तु ऐलकों का मूल-गुण न होकर, उत्तरगुण है। पदानुसार कुछ उत्तरगुणों के पूर्ण-पालन करने की महर्षियों की आज्ञा है।

ग्यारह प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट श्रावकों में, जो क्षुल्लक (देश-यति, आर्य) और क्षुल्लिका होते हैं, वे भी केशलौंच करते हैं, लेकिन उनके लिए यह आवश्यक नहीं, कि वे नियम से इस उत्तरगुण का पालन करें ही। वे कैंची आदि से स्वयं या दूसरे के द्वारा शिर आदि के बालों को कटवा भी सकते हैं। क्षुल्लक व ऐलक, मुनि के लघु भाई, देशयति या आर्य भी कहलाते हैं। इनकी क्रियाओं और मुनि की क्रियाओं में थोड़ा ही अन्तर है। ये मुनिव्रत अंगीकार करने की भावना रखते हुए केशलौंच का अभ्यास करते हैं। कोई-कोई क्षुल्लक-क्षुल्लिका तो दीक्षा धारण करते ही, गुरु से आजीवन केश-लौंच करने की स्वीकृति ले लेते हैं, और गुरु भी उन्हें सहर्ष स्वीकृति दे देते हैं।

स्व-पर कल्याण में आरूढ़ तपस्वी, जिन केशों का उत्पाटन करते हैं, उन्हें जल में प्रवाहित करना उत्तम-मार्ग है, क्योंकि तीर्थं-करों के केश भी क्षीर-समुद्र में प्रवाहित किये जाते हैं। कहीं-कहीं केशलुंचन के केशोंको जल प्रवाहित करने की बोली की जाती है, सो हमें यहां यह गुण ग्रहण करना चाहिए, कि इस निमित्त से भी धन का सदुपयोग ही होता है। बोली का धन लगेगा तो शुभ-काम में ही। हाँ बोली जो बोली जावे, वह मान-कषाय के आवेश या ख्याति की लालसा से नहीं बोली जानी चाहिये। अपने धनके सदु-पयोग की दृष्टिही उस समय होनी चाहिये। इस प्रकार केशलोंच के

केशों को जल प्रवाहित करने की बोली बोलना निरर्थक नहीं है। नहीं बोली जावे तो कोई हानि नहीं। परन्तु उन केशों को आदर के साथ नदी आदि के जल में प्रवाहित अवश्य करना-कराना चाहिए। यह सब धर्म-प्रभावना का बाह्य रूप है।

साधुजन किंचित् भी कष्ट का अनुभव न करते हुए, अपने शिर आदि के केशों को घास-फूस की तरह उखाड़ते हैं। वे न तो यह क्रिया दुनियां को अपना बड़प्पन दिखाने के लिए करते हैं, और न ख्याति की अभिलाषा लेकर ही। उन्हें यह क्रिया करने का, यह भी आग्रह नहीं, कि एकान्त में ही की जावे या सबके सामने। वे तो दो, तीन या चार माह में, केशों के बढ़ जाने से, यह क्रिया अपने मूलगुण के पालन रूप में ही करते है। धार्मिक-जन यदि धर्म-प्रभावनाका रूप रखते हैं तो उसमें भी वे सहर्ष तैयार रहते हैं। इस क्रियामें वे उपले (कण्डे) आदि की भस्म (राख) बीच-बीच में काम में लेते रहते हैं। इसका कारण एक तो यह है कि उस समय शिर आदि में पसीना विशेष हो जाता है, जो उस भस्म के लगाते रहने से सूखता जाता है, तथा भस्म लगाकर केशोत्पाटन करने से, वे सरलता से उखड़ जाते हैं, टूटते नहीं तथा एकाएक झटके से छूटते नहीं। जड़मूल से आसानी से निकलते चले जाते हैं। साथ ही राख में विषैलेपन को शान्त करने की शक्ति होने से उसका उपयोग किया जाता है। कोई भी दवा केशोत्पाटन के समय काम में नहीं लाई जाती। तीर्थंकर जैसे महा-पुरुष तो भस्म का बिल्कुल उपयोग करते ही नहीं। अन्य बिरले साधु-सन्त भी साधना को बढ़ाते-बढ़ाते बिना भस्म के केशलौंच कर लेते हैं।

यदि केशों का लुंचन न किया जाय, उन्हें बराबर बढ़न दिया जाय, तो उनमें जीव उत्पन्न हुए बिना न रहेंगे, तथा तैल कंघी आदि का प्रयोग करने-कराने से उनकी विराधना भी नियम से होगी। अतः स्वाधीनता व स्वाभिमान की रक्षा के लिए, केशलौच करना तपस्वियों का महत्वपूर्ण कार्य है। इसके बिना कोई भी सच्चा-साधक नहीं कहला सकता। भेदविज्ञानी वे मुनि महात्मा आर्यिका ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका धन्य हैं, जो आज भी इस प्रक्रियाको अपनाकर स्वपर के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। इनकी निश्चय-सम्यग्दर्शन पूर्वक की जाने वाली आत्म-साधना को शत-शत नमन।

□□□

कलि-प्रावृषि मिथ्यादिङ् मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो, हा! द्योतंते क्वचित् क्वचित्॥

अर्थात् बड़े खेद की बात है कि इस पंचमकाल-रूपी वर्षा ऋतुमे, सदुपदेशरूपी दिशाओ के मिथ्या उपदेशरूपी मेघों से ढक जाने पर, जुगुनुओं की भांति सच्चे उपदेष्टा गुरु कहीं-कहीं पर ही पाये जाते हैं।

—सागारधर्मामृत श्लो० ७

भाव : आत्मा की एक निधि

भाव–भाव सब ही कहें, विरले समझें भाव।
जो भावों को समझलें, हों परमात्म-स्वभाव ।।

हां तो देखिये ! हर कोई कहता है–"भाव शुद्ध होने चाहिये, हमारे तो भाव शुद्ध हैं, क्रियाकांड में क्या रखा है ? "पर ऐसा कहने वालों में विरले ही ऐसे होंगे, जो भावों के विषय में समझते हों। क्योंकि वास्तव में भावों को समझलें तो परमात्म–स्वभाव हुये बिना न रहें। परमात्म-स्वभाव होने पर, निराकुलता ही निराकुलता, आनंद ही आनंद और सुख-शांति ही सुख-शांति का साम्राज्य रहता है।

भावोंको समझने से तथा तदनुकूल परिणित करने से, आत्मा परमात्मा हो जाता है। अतः आइये ! तरह-तरह से आप-हम भावों को ही समझने का प्रयत्न (पुरुषार्थ) करें।

हां तो एक शब्द के अनेक अर्थ तथा एक अर्थको सूचित करने वाले अनेक-शब्द होते हैं। जैसे कनक का अर्थ सुवर्ण भी है और धतूरा भी। इसी प्रकार एक ही सुवर्ण-धातु को, सुवर्ण, कनक, कलधौत, सोना आदि शब्दों से भी समझा जाता है। ठीक इसी प्रकार "भाव" शब्द का अर्थ कीमत, अस्तित्व मूल्य आदिभी कहकर पुकारते हैं। यहाँ प्रकरणमें जो भाव के विषय में हमें समझना है, वह मात्र जीव-आत्मा में पाये जाने वाले भाव (परिणाम, विचार) से है।

भाव, अशुभ, शुभ और शुद्धके भेदसे तीन-प्रकारके हैं। आर्त (इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, पीड़ा-चिंतन और निदान-बंध) रूप परिणामों का होना, तथा रौद्र (हिंसानंद मृषानंद, चौर्यानंद और परिग्रहानंद) रूप परिणामों का होना, अशुभ भाव हैं। दान देने, श्रीवीतराग देव की पूजा करने और पंच परमेष्ठी की स्तुति व वंदना करने के विचार होना, शुभ-भाव हैं तथा "मैं जीवात्मा, शुद्ध-स्वभाव वाला हूँ, ऐसी अपनी आत्माकी परिणति होना, शुद्ध-भाव हैं।

भाव पाहुड ७६/७७

तत्वार्थसूत्रमें श्रीउमास्वामी ने भी भावोंके विषयमें बताया है-"औपक्षमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदयिक-पारिणायिकौ च'

अर्थात् जीवके, औपक्षमिक क्षायिक, मिश्र (क्षायोपक्षमिक) औदयिक और पारिणामिक ये पांचोंही भाव, निजके भाव हैं अर्थात् जीवके सिवाय अन्य किसीभी अचेतन पदार्थ में ये नहीं पाये जाते। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं—

औपक्षमिक भाव—कर्मोंके उपशमसे जीवका जो भाव होता है उसे औपक्षमिक—भाव कहते हैं। जैसे—निर्मली के संयागसे पानी स्वच्छ हो जाता है।

क्षायिकभाव—कर्मों के समूल विनाशसे, जो आत्माका भाव होता है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

क्षायोपशमिकभाव—कर्मों के क्षयोपशम (क्षय और उपशम) से, जीव का जो भाव होता है, उसे क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं।

औदयिकभाव-कर्मोके उदयसे आत्माके जो भाव होता है उसे औदयिक-भाव कहते हैं।

पारिणामिक-भाव : जो भाव, कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदयकी अपेक्षा न रखता हुआ, आत्माका स्वभाव-मात्र हो, उसे पारिणामिक-भाव कहते है।

भावशुद्धिके विषय में आराधनासार गाथा ६ की टीकामें आया है—

"भावशुद्धिमबिभ्राणाः, चारित्रं कलयंति ये।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यांते, तितीर्षन्ति महार्णवं" ॥

अर्थात् जो व्यक्ति भावशुद्धि के बिना, चरित्र का आचरण करते हैं, वे नाव-नौकाकी पर्वाह न करके, भुजाओंसे विशाल समुद्रको तैरकर पार करना चाहते हैं।

आचार्य सोमदेव कृत सूक्ति-मुक्तावलीमें भावोंके विषय में उल्लेख है—

"नीरागे तरुणी कटाक्षितमिव त्याग व्यापात प्रभौ।
सेवा कष्ट मिवोपरोपण मिवांभो-जन्मनामश्मनि ॥
विष्वग वर्षमिवोषर क्षितितले; दामार्हदर्चातपः।
स्वाध्यायऽध्ययनादि निष्फल-मनुष्ठानं विना भावनाम् ॥९३॥

इसीके अनुवाद रूपमें कविवर-बनारसीदासजी ने निम्न छन्द में यह सुन्दर-सुझाव दिया है कि भावके बिना, सब-क्रिया निष्फल है—

ज्यों नीराग पुरुष के सन्मुख, पुराकामिनी कटाक्ष कर ऊठी।
ज्यों धन त्याग रहित प्रभु सेवन, ऊसर में बरषा जिम झूठी॥
ज्यो शिल मांहि कमल को बोवन, पवन पकर जिम बांधिये मूठी।
ये बातूलि होय जिम निष्फल, त्यों बिन-भाव क्रिया, सब झूंठी॥

अर्थात् जिस तरह वीतराग व्यक्तिके सन्मुख, पुरकी कामिनी का कटाक्ष सहित उठकर बैठना निष्फल है, बंजर-भूमिमें वर्षाका होना निष्फल है, पत्थरकी चट्टानोंमें कमलका उगाना व्यर्थ है तथा पवनको पकड़ कर मुट्ठी का बांधना निष्फल है। उसी प्रकार भाव के बिना सभी क्रियाये, झूठी अथवा निष्फल है।

कविके लिखने का यह स्पष्ट अभिप्राय झलकता है कि क्रिया यदि शुभ है तो उसके अनुकुल मन्द-रागादि रूप, भाव भी शुभ होने चाहिये, तभी क्रियाकी सार्थकता है। मात्र प्रदर्शन-रूप-क्रियाका कोई महत्व नही।

क्योंकि भावों से ही जीवनका निर्माण होता है, भावोंसे ही जीवन, शाँत व सुखी रहता है। जिन भावोंसे जीवन शांत व सुखी रहता है। वे शुद्ध अन्तःकरणसे उत्पन्न हुये भावही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। उन्हीं से जीवात्मा कर्मबन्धनसे छुटकारा पाता है।

श्रीकुमुदचन्द्राचार्य ने श्री कल्याणमंदिर-स्तोत्रमें उल्लेख किया है—

"आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽस्मि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन-बाँधव ! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥"

इसका कर्णप्रिय, भाव-पूर्ण, हिन्दी-पद्यानुवाद, इस प्रकार है-

"श्रवण-दरश-पूजन भी मैंने, यदि हो किसी समय कीना।
तो भी सच्चे भक्ति-भाव से, नहीं तुम्हें चित में दीना ॥

इसही कारण हे जन बांधव ! दुख-भाजन मैं हुआ अभी।
भाव रहित हो क्रिया कोई भी, सफल होता नहीं कभी ॥

एक आचार्यश्री ने भावोंका महत्व इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

"सकलाः विकलाः सर्वे सर्वज्ञाः परमेष्ठिनः।
त्रयश्चान्ये भवन्तीह, भावैर्भावान्नमस्कुरु ॥"

अर्थात् इस लोकमें सम्पूर्ण अरहंत-केवली (सकल परमात्मा), सिद्ध-परमेष्ठी (विकल परमात्मा) तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ये सब अपने-अपने उत्कृट भावों से ही हुए है।

रत्नाकर-पंच विंशति में लिखा है—

"वैराग्यरंग प्रवंचनाय, धर्मोपदेशो जन-रंजनाय।
वादाय विद्याऽध्ययनं च मेऽभूद्, कियद् ब्रुवे हास्य-करं त्वमीश !

इसका निम्न सुन्दर हिन्दी-पद्यानुवाद बारबार पढ़कर चिंतनीय है—

"संसार ठगने के लिये, वैराग्य को धारण किया।
जगको रिझानेके लिये, उपदेश धर्मोका दिया॥
झगड़ा मचाने के लिये, मुझ-जीभ पर विद्या बसी।
निर्लज्ज हो कितनी उड़ाऊँ, हे प्रभो! अपनी हंसी॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भाव पाहुडमें जो भावोंके विषयमें में लिखा है, वह ध्यान देने योग्य है वे लिखते हैं—

"भाव–विमुत्तो मुत्तो, णय मुत्तो बंधवाइ मित्तेण ४३.

अर्थात् जो मुनि, ममत्व-भाव रूप वासना तथा राग-द्वेष रूप वासना (भाव) से दूर हुआ है, वही मुक्त अर्थात् मुनि है। केवल बांधवादि कुटुम्ब और मित्रादिसे छुटकारा पाने वाला, "मुक्त" अर्थात् मुनि नहीं है। यहाँ ममत्व व राग-द्वेषादि रूप भावोंको त्याज्य बताया है। आगे उल्लेख है कि—

'भावेण होइ लिंगी" ४८

अर्थात् भाव पूर्वक, अन्तरंग-परिणामोंसे, भेद विज्ञानी होने परही, मुनिवेशकी शोभा है। आगे भी ऐसे ही भाव-श्रमणका उल्लेख है—

"भाव समणो य धीरो, जुवई-जण-वेढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो, परीत्त-संसारिओ जादो॥ ५॥

अर्थात् स्त्रीजनोंसे घिरे रहने परभी, शिवकुमार नामक

भाव-श्रमण, विशुद्ध बुद्धिका धारक और संसारका त्यागी हुआ।

अब भावहीन द्रव्यलिंगी-मुनिके सम्बन्धमें बताते हैं—

अभव्यसेन नामक द्रव्यलिंगी मुनिने, केवली भगवानसे उपदिष्ट ग्यारह अंग पढे। अभव्यसेन इतना पढा, तोभी भाव-श्रमणपने को प्राप्त नही हुआ। जिन वचनकी प्रतीति नही हुई। अतः संसारी ही रहा।"

भाव पाहुड गाथा ५२.

अब भावोकी विशुद्धि वालेका उदाहरण प्रस्तुत है—

'तुममासं घोसंतो, भाव-विसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ ॥५३॥

अर्थात् शिवमूर्ति मुनिने शास्त्र नही पढे थे। परन्तु 'तुष माष' ऐसे शब्दको रटते हुए, भावोकी विशुद्धतासे, महानुभाव होकर केवलज्ञानको प्राप्त किया।

भावो के सम्बन्ध मे एक, मुनि महात्मा का स्पष्टीकरण है—

'भावैस्तिर्यङ नरः स्वर्गी' नारकश्चेतनो भवेत्।
भावैस्तीर्थकृतस् तस्मात्, सद्भावानुररी कुरू ॥"

अर्थात् यह चेतन-जीवात्मा, कपट भावोसे तिर्यंच, अल्प-आरम्भ तथा अल्प-परिग्रह व स्वभावमे मृदुता होने से मनुष्य, सराग संयम व संयमासंयम आदि से देव, बहुत आरभ-परिग्रह से नारकी और दर्शन बिशुद्धि आदि १६ कारण भावनाओ से तीर्थंकर होता

है। अतः सद्भावोंको ही हृदयमें उत्पन्न होने देना चाहिये।

श्रीयोगीन्द्रदेव सूरिने योगसार नामक महान् ग्रन्थमें उल्लेख किया है—

"परिणामे बंधु जि कहिउ, मोक्ख वि तह जि वियाणि" १४.

अर्थात् हे भव्यात्माओं ! यदि वास्तवमें अपने-आत्माका कल्याण चाहते हो, तो, इस बातको सदैव ध्यानमें रक्खो कि 'परिणामों से ही, बंध और परिणाम से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

यहाँ आचार्यश्री ने करुणा बुद्धि पूर्वक, विशेष उपकार की भावना से, हम संसारी प्राणियोंको प्रेरणा दी है कि देखो ! अशुद्ध-भावों से कर्मों का बंधन होता है, जिनके कारण तुम दुःखी हो, अतः अपने आत्मामें अशुद्ध भाव मत होने दो तथा शुद्ध भावों से कर्मबंधन से मुक्ति होती है, जिससे तुम पूर्ण निराकुल सुखी हो सकते हो, अतः अपने आत्मा में शुद्ध भाव ही होते रहें, इसका पूर्ण प्रयत्न करो। क्या ही अच्छा हो कि आज हम आचार्यश्री की इस प्रेरणाका पालन करना, प्रारम्भ कर दें।

एक और आचार्य श्री ने संबोधित किया है कि, 'भावहीन व्यक्ति के पूजा, तप, दान, जप और दीक्षा आदि उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार बकरी के गले के स्तनों से दुग्ध की प्राप्ति कदापि होती नहीं।' आचार्यश्री का श्लोक इस प्रकार है—

'भाव-हीनस्य पूजादि, तपो-दानजपादिकम् ।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्या, दजाकंठे स्तनाविव ॥'

एक कविने निम्न प्रकार इसकी पुष्टि की है—

भव्य भाई भावों का, अपने सुधार बिना,
जप तप धर्म कर्म, क्रिया कांड व्यर्थ है।'

हमारे ऋषि-महर्षियोंके वचनामृतका प्रभाव, भव्यात्माओं पर होता ही है और इसलिये एक भक्त, भक्ति में गदगद होकर बार-बार उच्चारण करता है—

'देव वंदना करूं भावसे, सकल-कर्मकी नाशन हार'-त्रिपूजा

इसी प्रकार एक अन्य भक्त, भक्ति में विभोर होकर दोनों हाथ जोड़कर शिर झुकाते हुये बारंबार गुनगुनाता है—

'मैं बंदौं जिनदेव को, कर अति निर्मल-भाव।
कर्मबंध के छेदने, और न कुछ उपाव ॥'

भावों के सम्बन्ध में समणसुत्त पृ. ११६ गाथा ३६१ में कितना महत्वपूर्ण कथन है—

'भाव-विसुद्धि णिमित्तं, बाहिर-गंथस्स कीरए चाओ।
बाहिर-चाओ विहलो, अब्भतरगंथ-जुत्तस्स ॥'

अर्थात् भावोंको विशुद्ध (निर्मल) करनेके लिये ही, बाह्य स्त्री-पुत्रादि परिग्रहका त्याग किया जाता है। जिसके भीतरी परिग्रह (राग द्वेष क्रोधादि) रह जाते हैं, उसके बाह्य-परिग्रह का त्याग निष्फल है।

परिणामोंको निर्मल करनेके लिये अथवा निर्मल बनाये रखनेके लिये, भगवान-पार्श्वनाथ की स्तुतिमें कितना सुन्दर उल्लेख है—

'हो देश में सब जगह सुख-शांति पूरी,
हिंसा-प्रवृत्ति जग से, उठ जाय सारी।
पावें प्रमोद सब राष्ट्र, निजात्म-मेरा,
कल्याण तू कर सदा, भगवन ! नमस्ते ।।"

आचार्य पूज्यपाद ने भी लिखा है—

'शास्त्राभ्यासो जिनपति-नुतिः, संगति-सर्वदार्यैः ।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोषवादे च मौनं ।।

सर्वस्यापि प्रियहितवचो, भावना चात्मतत्वे ।
संपद्यंतां मम भव-भवे, यावदेतेऽपवर्गः ।।

आगे भी लिखा है—

तव पादौ मम हृदये. मम हृदयं तव पद्द्वये लीनं ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्, यावत् निर्वाण-संप्राप्तिः ।।

उक्त छहों पंक्तियोंका सुन्दर-हिन्दो-पद्यानुवाद, छह ही पंक्तियों में इस प्रकार है—

'शास्त्रों का हो पठन सुखदा, लाभ सत्संगति का ।
सद्वृत्तों के सुगुण कहके, दोष ढाकूं सभी का ।
बोलूं प्यारे वचन हित के, आपका रूप ध्याऊँ ।
तोलों सेऊं चरण प्रभु के मोक्ष जोलौं न पाऊं ।।'

'तुव पद मेरे हिय में, मुझ हिय तेरे पुनीत चरणों में।
तबलों लीन रहें प्रभु ! जबलों पाया न मुक्ति पद मैंने ।।'

परोपकार के भाव चाहने वाला या बनाये रखने वाला व्यक्ति, उक्त आचार्यश्री की वाणीका इस प्रकारभी चिंतवन करता है–

'क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः ।
काले-काले च सम्यक् वर्षतु मघवा, व्याधयो यांतु नाशं ।।

दुर्भिक्षं चौर-मारी क्षणमपि जगतां, मास्म भूज्जीवलोके ।
जैनेंद्रं धर्मचक्रं, प्रभवतु सततं, सर्व सौरव्यप्रदायि ।।'

इसका महत्वपूर्ण हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार मनन करने योग्य है–

होवे सारी प्रजाको सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा ।
होवे वर्षा समय पै, तिलभर न रहे, व्याधियों का अंदेशा ।।

होवे चोरी न मारी, सुसमय वरतै, हो न दुष्काल मारी ।
सारे ही देश धारें, जिनवर-वृष को, जो सदा- सौख्यकारी ।।

भावों को उत्तरोत्तर विशुद्ध करने या बनाये रखने के लिये, यह श्लोक भी प्रतिदिन बारंबार स्मरण करने योग्य है—

'सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मां कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ।।'

अर्थात् संसार के सभी जीवात्मा सुखी हों सर्व प्रकारका सौख्य प्राप्त करें तथा कोईभी किसीभी प्रकार से दुखी न हों ।

हमें इन वाक्योंको सदैव स्मरण रखना चाहिये कि 'भाव ही अच्छे बुरे का मूल है।' तथा 'भावसे ही जीवात्मा, हिंसक और अहिंसक होता है।' जैनधर्म तो सारा भाव प्रधान है । उसमें जहां देखो वीतराग-भाव (राग द्वेषादि रहित भाव) की पुष्टि मिलती है । इस सम्बन्धमें श्रीमत् अमृतचंद्रसूरि ने पु. सि. उ. में जो उल्लेख किया है वह ध्यान देने योग्य है । वे लिखते हैं—

'अप्रादुर्भावः खलु, रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्ति, हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

अर्थात् अपने आत्मामें, राग द्वेष कोध, मान, माया, लोभ, मोह, भीरूता, घृणा आदि रूप, विकारी भावोंका, उत्पन्न न होना अहिंसा है तथा इनकी उत्पत्ति होना हिंसा है ।

यहां यह स्पष्ट झलकता है कि प्राणियोंके प्राणोंका वियोग होनेमें, यदि आप-हम निमित्तमात्र हैं तो भी हिंसा पापके भागी नहीं है । हां हम राग-द्वेषादि रूप परिणत होकर यदि किसी भी प्राणीके प्राणोंका वियोग होनेमें निमित्त होते हैं तो अवश्य ही हिंसा पापके भागी हैं ।

महापण्डित आशाधरजी, सागार-धर्मामृतमें, भावोंके विषय में, महत्वपूर्ण-तर्क द्वारा समझाते हैं कि—

'विष्वग् जीवचिते लोके, क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत् ।
भावैकसाधनौ बन्ध, मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ।।'

—अध्याय ४, श्लोक २३

अर्थात् अगर भावके अधीन, बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था. स्वीकार न की जाये तो संसारका वह कौनसा स्थान होगा जहां पहुंच कर भव्यात्मा पूर्ण अहिंसक होकर, मोक्ष प्राप्त करें ? क्योंकि संसारका कोई ऐसा स्थान नहीं, जहां ठसाठस जीव राशि न हो । जब सवत्र जीव राशि है, तो उसकी हिंसासे भी बच नहीं सकते । अतः अहिंसा-भाव ही कल्याणकारी है । अपने आत्माको राग-द्वेषादि रूप परिणत न होने देना ही श्रेयस्कर है ।

यद्यपि राग द्वेषादि रूप भावोंका न होनाही प्रत्येक-व्यक्ति के कल्याणका मार्ग है फिर भी ऋषि-महर्षियों ने स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निषेध कर, बाह्य आचरण (दान, पूजा, व्रताचरण रूप क्रिया-कांड) का भी उपदेश दिया हैं, जिसके बाह्य क्रियाकांड सही नहीं हैं, उसके भावोंका विशुद्ध हौना संभव नहीं । अपने भाव शुद्ध मानने वालेके तदनुरूप क्रिया होना आवश्यक है ।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने लिखा है—

'सूक्ष्माऽपि न खुल हिंसा, पर–वस्तु–निबंधना भवति पुंसः ।
हिंसायतन–निवृत्तिः. परिणाम-विशुद्धये तदपि कार्या ।।४६।।'

पु. सि. उ.

अर्थात् निश्चय-कर पर–पदार्थके निमित्तसे, सूक्ष्मसे सूक्ष्म भी हिंसा नहीं होती। फिरभी प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह परिणामविशुद्धि के लिये हिंसाके आयतन का त्याग करे। अर्थात् अहिंसादि वृत्तोंको धारण करें।

श्रीमत् समंत-भद्राचार्यने तो यहां तक उल्लेख किया है कि–

'राग-द्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः'

अर्थात् साधु पुरुष, राग द्वेषादिकी निवृत्ति के लिये, बाह्य आचरणका पालन करता है। जैनगुरुओंके विषयमें जो यह लिखा है कि वे—

'अरि मित्र महल मसान कंचन, काच निंदन थुति करन।
अर्घावतारण असि प्रहारन में, सदा समता धरन।'

होते हैं। इससेभी रागद्वेषादि रूप विकृत भावोंके अभाव रूप, समता भावकी पुष्टि होती है। बाह्यमें अट्ठाईस मूलगुणोंके पालन रूप मुनि अवस्था है ही।

जीवात्माके अज्ञानदशामें ममता-मूर्च्छा रूप भाव होते हैं, पर वे कल्याणकारी नहीं। गुरुओं की संगतिसे जीवात्मा उनको कल्याण कारी समझने लगता है और उन्हें छोड़कर समताभाव का अभ्यास करने लगता है।

अतः एकान्त रूप में यह धारणा बना लेना उचित नहीं है कि 'हमारे तो भाव-विशुद्ध हैं, क्रियाकाण्डमें क्या धरा है। 'शुभ-भावों

के लिये शुभ-क्रियाकांडों का होना अत्यन्त-आवश्यक है। इतना ही नहीं अपितु शुभ-भाव व शुभ-क्रिया के साथ शुद्धका लक्ष्य होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

हमें इस प्रकरण में स्वभाव, विभाव और परभाव को भी समझ लेना चाहिये। स्वयं आत्माके शाश्वत् रहने वाले भाव (परिणाम) को स्वभाव कहते हैं। आत्माके ज्ञान, दर्शन आदि स्वभाव हैं इनसे स्व-पर का शुद्ध जानना तथा अवलोकन करना रूप कार्य होता है और यह कार्य, निराकुलता रूप शाश्वत सुखका कारण होने से, उपादेय है। स्वात्मा में व्यक्त करने योग्य है। अज्ञान-दशा में स्वात्माके जो क्षण-स्थायी, रागद्वेषादि विकारी-भाव होते हैं उन्हें विभाव कहते है। ये विभाव, आकुलता रूप होने से दुख के मूल कारण हैं अतः त्याज्य हैं। मात्र ज्ञेय जानने योग्य हैं। स्वात्माके सिवाय, अन्य आत्माओंमें पाये जाने वाले परिणामोंको परभाव (पर के भाव) कहते हैं। ये परभाव; स्वभाव रूप और विभाव रूप इस प्रकार दोनों प्रकार के होते है। ये भी मात्र ज्ञेय जानने योग्य हैं। ये न हेय हैं और न उपादेय।

यहां अब प्रसंगवश भाव सम्बन्धी षट्लेश्या प्रकरण को समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। सो ही निम्न आठ दोहोंमें, इस प्रकार है—

'माया, क्रोध रू लोभ मद, है कषाय दुखदाय।
तिनसे रंजित-भाव जो, लेश्या नाम कहाय ॥१॥

अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप दुख-दायक कषाय-भाव से रंजित, योगकी प्रवृत्ति होना लेश्या है। सिद्धांतचक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य ने, लेश्याकी परिभाषा यह भी की है 'जिसके द्वारा जीवात्मा अपने को पुण्य-भाव और पाप-भाव के अधीन करे, वह लेश्या है। 'अब भावोंसे होने वाली छः-लेश्याके नाम बताते हैं-

षट्लेश्या जिनवर कही, कृष्ण नील कापोत।
पीत, पद्म छठी शुक्ल, परिणामहिं तैं होत ।।२।।

अर्थात् देवाधिदेव श्रीजिनवर देवने, परिणामों (भावों) से होने वाली, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्या कही है। इनमें प्रारम्भकी तीन अशुभ और अंतिम तीन शुभ लेश्या हैं।

इन छहों लेश्या के विषय में निम्न तीन-दोहों में द्रष्टांत द्वारा इस प्रकार समझाया गया है—

कठियारे षट् भाव धर, लेन काष्ट को भार।
वन चाले भूखे हुये, जामुन वृक्ष निहार ।।३।।

कृष्ण वृक्ष काटन चहै, नील जु काटन डाल।
लघु डाली कापोत उर, पीत सबै फल डाल। ।।४।।

पद्म चहे फल पक्व को, तोडूं खाऊं सार।
शुक्ल चहे धरती गिरे, लूं पक्वे निरधार ।।५।।

अर्थात छह कठियारे, अपने अलग अलग भाव लेकर, जंगल में

काष्ठ का बोझ लेने को गये। कर्मयोगसे छहोंको भूख लगी तो पुण्ययोगसे जामुनका वृक्ष दिखाई दिया। अब उन छहों कठियारों में से जिसके कृष्ण लेश्या रूप भाव थे, वह तो वृक्षको ही जड़ मूल से काटना चाहता है, नील लेश्या के भाव वाला, व्यक्ति छोटी-छोटी डालें काटना चाहता है, पीतलेश्याके भाव वाला, डालों को हिलाकर कच्चे-पक्के सभी जामुन गिराना चाहता है, पद्म लेश्या वाला, पके जामुनोंको तोड़कर खाना चाहता है और शुक्ल लेश्या-वाला व्यक्ति,पेड़ के नीचे गिरे हुये पक्के जामुनों को उठाकर खाना चाहता है। इस प्रकार क्रमशः छहों के छह लेश्या रूप भाव हुये।

अब उक्त लेश्या परिणामका फल तीन दोहोंमें बताते हैं।-

जैसी जिसकी लेश्या, तैसा बाँधे कर्म।
श्रीसत्गुरु संगति मिले, मनका जावे भर्म ॥६॥

कृष्ण नारकी होत है, थावर नील प्रभाव।
तिर्यंच होत कपोत तें, पीत लहे नर आव ॥७॥

पद्म थकी लहै देवपद, शुक्ल शिवालय देव।
उत्कट लेश्या भावके, काज करो जित येव ॥८॥

अर्थात् जिस जीवात्मा व्यक्ति के जिस-लेश्या के भाव होते हैं, वैसा ही वह, कर्म-बंधन करता है। हां! सत्गुरु की संगति मिलने से, मनका अज्ञान, अवश्य दूर होता है। कृष्ण-लेश्यावाला, नारकी होता है। नील लेश्या वाला, एकेन्द्रिय स्थावर होता है। कपोत लेश्या वाला, तिर्यंच होता है। पीत लेश्या वाला, मनुष्य, गतिका धारक होता है,

पद्म लेश्य वाला, देव पर्याय को प्राप्त करने वाला होता है और शुक्ल लेश्या वाला देव पद तथा मोक्षपद को प्राप्त करने वाला होता है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस लेश्या रूप भावों के प्रकरण को समझकर (उत्कृष्ट) शुक्ल लेश्या रूप भाव जिससे हों ऐसे कार्य करें। जिससे निर्वाणकी संप्राप्ति हो जावे।

भाव पाहुड गाथा ६४ में श्री कुन्दकुन्द-महर्षि ने, भावोंका निष्कर्ष-निचोड़ निकालते हुए, जो अन्तिम-निर्णय दिया है, वह चिर-स्मरणीय है—

'किं जंपिएण बहुणा, अत्थो धम्मो य काममोक्खो य'
अण्णेवि य वावारा, भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥'

अर्थात् आचार्य कहते हैं कि अधिक क्या कहें ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा अन्य जोभी कुछ क्रियायें हैं, उनकी सफलता भावों से हैं।

भाव-संग्रह गाथा ५ में भी भावोंका निष्कर्ष बताते हुये लिखा है कि—

"भावेण कुणइ पावं,पुण्णं भावेण तह य मोक्खं वा"

अर्थात् भावसे ही पाप, भाव से ही पुण्य तथा भाव से ही मोक्षकी प्राप्ति होती हैं।

श्रीअमितगति आचार्य ने भी अमित गति श्रावकाचार अध्याय १३ में लिखा है

"यादृशः क्रियते भावः फलं तत्राऽस्ति तादृशम्" ॥३३॥

अर्थात् जैसा भाव किया जाता है, फलभी वैसा ही प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण लेखका सार निचोड़ यह है कि भावोंका सम्बन्ध, आपके हमारे सभी प्रत्येक जीवात्मा से है। वे भाव तीन प्रकारके है। अशुभभाव, शुभ भाव और शुद्ध भाव। इनमेंसे प्रथम दो भाव अशुद्धोपयोगी के होते हैं जो कि संसार के कारण हैं। यद्यपि अशुद्धोपयोगी के जो अशुभ भाव तथा शुभ-भाव होते हैं वे सामान्य रूप से, संसार बंधनके ही कारण हैं, परन्तु इनमें शुभ भावके जो दो भेद पापानुबंधी—रूप पुण्य—भाव तथा पुण्यानुबंधीपुण्य-रूप शुभ भाव बताये हैं। इनमें पुण्यानुबंधी-पुण्य को परम्परा से, मोक्षका कारणभी माना गया हैं क्योंकि शुद्धभावका प्रारम्भ, पुण्यानुबंधीपुण्यके होने परही होता है। यहां यहभी अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है कि अशुभ-भाव और पापानुबंधी पुण्य-रूप, भाव नियम से मिथ्यादृष्टि बहिरात्माके ही होते हैं। जबकि पुण्यानुबंधी-पुण्य रूप शुभ-भाव, सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गीके होते है। शुभ-भाव नियम से शुद्धोपयोगी जीवात्माके ही होने से कर्मोंकी निर्जरा पूर्वक अविनाशी-मोक्ष-सुख के कारण है। ये शुद्ध-भाव एक अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान वाले मोक्षमार्गी जीवात्मामें प्रारम्भ होते हैं और वास्तवमें इनका प्रारम्भ श्रेण्यारोहरण से होता। चतुर्थ-गुणस्थानमें पुण्यानुबंधी पुण्य-भावकी मुख्यता तथा शुद्ध भाव की गौणता है। हां कर्मों की निर्जरा का प्रारम्भ जो मोक्ष का कारण है वह चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। पहले पाप-भावोंकी विशेष निर्जरा होती

है। मुक्तदशामें शुद्ध भाव रहता है अर्थात् ज्ञान-दर्शन आदि शाश्वत् गुणों का शुद्ध परिणमनही प्रति समय रहता है। इस शुद्ध भावका अभाव अनंतकालमें भी नहीं होता।

इस प्रकार हमें भावों के विषयमें सही समझ प्राप्त करके अशुभ क्रिया और अशुभ भाव को त्यागना चाहिये तथा पुरूषार्थ और विवेक-पूर्वक शुभ-क्रिया और शुभ-भाव करने चाहिये। इतना ही नहीं अपितु शुभ-भावके साथ शुद्ध-भाव और आत्म-रमण रूप शुद्ध-क्रिया का प्रारम्भ करके शुद्ध-भावोंको (स्वात्मतल्लीनता को) वृद्धिगत करना चाहिये।

देखने में दान पूजादि शुभ-क्रियायें और ध्यानावस्था रूप शुद्ध क्रियायें ही आती हैं। अत: इन्हें आवश्यक समझकर प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। इन क्रियाओंके करते रहने से भी किसी-किसी के अवसर पाकर, तदनुकूल शुभ-भाव और शुद्ध-भावहो जाते हैं। जिनसे जीवात्मा मुमुक्षु कहलाकर मोक्षमार्गी हो जाते हैं और एक दिन वह आता है कि वही साक्षात् मोक्ष-दशा का धारी हो जाता है।

भावोंको निर्मल बनाने हेतु, "भावना दिनरात मेरी, सब सुखी संसार हो।" इत्यादि भजन, "जिसने राग द्वेष कामादिक जीते...." आदि मेरी भावना तथा "दिनरात मेरे स्वामी, मैं भावना यह भाऊं" इत्यादि भजन वौर समाधि भक्ति अपरनाम 'प्रिय भक्ति' का दैनिक पाठ अति आवश्यक है।

मदमोदन-पंचशतीमें भावके विषयमें कितना हृदय-स्पर्शी छन्द है—

भावही तें पाप-बंध, भावही तै पुण्य-बंध ।
भावही तें होत दोऊ, बंध का अभाव है ॥
भावही तें नर्क-स्वर्ग, भाव ही तें भोगभूमि ।
भावही तें कर्मभूमि, को अभाव भाव है ॥
भावही तें सज्जनता, भावही तें दुर्जनता ।
भावही तें सुखदुख, शिव का उपाव है ॥
भाव बिना द्रव्य नांहि, द्रव्य बिना लोक नाहीं ।
लोक बिना शून्य सब, मूलभूत-भाव है ॥६६॥

अत: आत्म-कल्याण चाहने वालेको यह एकान्त आग्रह कभी नहीं होना चाहिये, कि पहले शुभ-भाव हों, फिर शुभ-क्रिया तो होगी ही, अपितु यहभी लक्ष्य रखकर पहले शुभ-क्रियायें करनी चाहिये कि शुभ-क्रिया होने पर, पश्चात् भी शुभ भाव होकर शुद्ध-भाव हो सकते हैं और इस प्रकारभी शुद्ध भावोंसे मोक्ष हो जाता है। वास्तव में मानव जीवन की सफलता, भावों को समझकर तथा तदनुकूल आचरण करके अविनाशी व अविकार रूप एवं शाश्वत् सुख के निधान मोक्ष (स्वात्मानुभूति का पूर्ण विकास) को प्राप्त करने में ही है।

□□

सल्लेखना: क्या, क्यों, कब व कैसे ?

सत् और लेखना, इन दो शब्दोंके संगठनसे 'सल्लेखना' शब्द बना है। सत् का अर्थ है भली प्रकार अर्थात् शास्त्र-विधि के अनुसार और लेखनका मतलब है काय-शरीर और कषाय क्रोधादिकोकों कृश-क्षीण करते हुए शरीरको त्यागना। कायको तो अनशनादि तपों के द्वारा क्षीण किया जाता है और कषायों को, शास्त्रोंको पढ़ते सुनते रहने तथा गुरुओंके सदुपदेशोंको सुनते रहने से क्षीण किया जाता है। स्वामी-समन्तभद्रने उल्लेखनाके विषय में लिखा है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निः प्रतिकारे।
धर्माय तनु-विमोचन, माहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥

अर्थात् जिसका निवारण नहीं किया जा सके ऐसे उपसर्गके होने पर, दुर्भिक्षके होने पर, बुढ़ापाके होने पर, रोगके होने पर, अपने व्रतादि रूप धर्मकी रक्षाके लिये, शरीरका विमोचन करना 'सल्लेखना' है। इसी अभिप्रायको एक-कविने इस प्रकार लिखा है—

"आ जावे अनिवार्य जरा, दुष्काल, रोग या कष्ट महान्।
धर्म हेतु तब तन तज देना, सल्लेखना-मरण सो जान ॥"

श्री उमास्वामी-महाराज ने तत्वार्थ-सूत्र में लिखा है—

"मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥ अ० ७,

अर्थात् व्रतों को धारण करने वाला व्रती प्राणी, मरण समय सल्लेखनाको प्रीति पूर्वक सेवन करे।

कविवर-दौलतरामजी ने भी छहढालाकी चौथी ढालके अन्तिम पद्यमें लिखा है—

"बारह व्रत के अतिचार पन-पन न लगावे,
मरण समय सन्यास धार तसु दोष नशावे ॥"

एक कविने सल्लेखनाके सम्बन्धमें जो उल्लेख किया है और जिसे हमारे गुरु आचार्य श्रीमहावीरकीर्तिजी महाराज बहुत सुनाया करते थे वह ध्यान देने योग्य है—

"काय सलेखन सब करें, कषाय सलेखन कोय ।
तजे विभाव जु भाव को, सहज मुक्त सो होय ॥"

अर्थात् संसार में कायको कृश करने वालेतो बहुत हैं पर कषाय को कृश करने वाले विरले हैं । अतः जो कायके साथ कषाय को कृश करने रूप विभाव भावको छोड़ देते हैं, वे सरलता से पूर्ण सुखी-मुक्त हो जाते हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि [1] सल्लेखना करने वाले पूर्ण सुखी होते हैं तभी तो हमारे आचार्यों ने समझाया है—

"एकम्हि भव-गहणे, समाहिमरणेण कुणई जो कालं ।
णहि सो हिंडइ बहुसो, सत्तट्ठ भवे पमोत्तूण ॥"

अर्थात् जिसने एकभी किसी जन्ममें समाधिमरण किया है वह इस संसारमें सात आठ से अधिक जन्म मरण नहीं करता । नियमसे भवांतरमें मुक्त होता है । चारों गतियोंमें मुख्यतासे मानव ही इसे धारण कर सकते हैं । विरले पशुओं ने भी इसे

(१. यह समाधि मरण का ही दूसरा नाम है ।)

धारण कर परम्परा से अनुपम सुख प्राप्त किया है। नरक और देव-गति में इसका अभाव है।

बृहत् समाधि मरण भाषा पाठ में कितना सुन्दर लिखा है—

"ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातें जग भरमायो"

अर्थात् मैंने आज तक समाधि पूर्वक मरण नहीं किया, इसी कारण संसारमें भ्रमण करता रहा, स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं।

अन्तः क्रियाधिकरणं, तपः फलं सकल-दर्शिनः स्तुवते।
तस्मात् यावत् विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥

इसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार पाया जाता है—

अन्त समय का सुधार करना, यही तपस्या का है फल।
अतः समाधिमरण हित भाई, करते रहो प्रयत्न सकल ॥

मृत्यु महोत्सव पाठमें जो लिखा है वहभी ध्यान देने योग्य है-

"तप्तस्य तपश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना ॥१६॥"

अर्थात् किये गये तपका, पालन किये व्रतका और प्राप्त किये श्रुतज्ञानका फल, समाधि-पूर्वक मरण करनेसे है अर्थात् समाधिमरण नहीं किया तो तप, व्रत व ज्ञान सब निष्फल हैं। अतः समाधिमरण करना अति आवश्यक है।

पं० आशाधरजी ने भी लिखा है—

"सल्लेखनां करिष्येऽहं, विधिना मारणान्तिकीं" अर्थात् व्रती श्रावकको ऐसा दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिये कि मैं मरण समय विधि पूर्वक सल्लेखना करूंगा।

श्रीअमृतचन्द-सूरि ने (पु. सि. उ. श्लो १७६ में) व्रती श्रावकके लिए जो मार्मिक बात लिखी है वह चिर-स्मरणीय है वे लिखते हैं।

"मरणांते ऽवश्यमहं, विधिना सल्लेखनां करिष्यामि"

अर्थात् व्रती श्रावक इस भावनासे ओत पोत भरा हुआ होता है कि मैं मरण समय अवश्यही विधि पूर्वक सल्लेखनाको करूंगा।

सल्लेखना (समाधि-मरण) की विधि स्वामी-समन्तभद्रने ५ श्लोकों में इस प्रकार वर्णित की है—

"स्नेहं बैरं संगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजन-परजनमपि च, क्षान्त्वा क्षययेत् प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥

आलोच्य सर्वमेनः, कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रत, मामरणस्थायि निःशेषम् ॥ १२५ ॥

शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्वोत्साहमुदीर्य च, मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ १२६ ॥

आहारं परिहाप्य, क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत् पानम्।
स्निग्धं हापयित्वा, खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥ १२७ ॥

खरपान-हापनाऽपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंच-नमस्कार-मनास्, तनु त्यजेत् सर्व-यत्नेन ॥ १२८ ॥

रत्न० क० श्रा०

उक्त पांचों-श्लोकोंका सुन्दर हिन्दी-पद्यानुवाद इस प्रकार है जो कि सभीके सरलतासे समझमें आता है—

"स्नेह बैर सम्बन्ध परिग्रह, छोड़ शुद्ध मन त्यों होकर।
क्षमा करे निज जन परिजनको, याचे क्षमा स्वयं सुखकर ॥

कृत कारित अनुमोदित सारे, पापों का कर आलोचन ।
निश्छल जीवन भर को धारे, पूर्ण महाव्रत दुख मोचन ।।

शोक दुःख भय अरति कलुषता, तज विषाद की त्योंहि थाह ।
शास्त्र सुधा को पीते रहना, धारण कर पूरा उत्साह ।।

भोजन तजकर रहे दूध पर, दूध छोड़कर छाछ गहे ।
छाछ छोड़ ले प्रासुक जलको, उसे छोड़ उपवास गहे ।।

कर उपवास शक्ति अपनी से, सर्व यत्न से निज मन को ।
णमोकार में तन्मय करदे, तज देवे नश्वर तनको ।।"

इस प्रकार सल्लेखना करने वाला व्यक्ति नियमसे मुक्ति पद प्राप्त करता है, सो ही लिखा है—

"सल्लेखना मनुज जो धारें, पाते हैं वे निरवधि मुक्ति"

इस सल्लेखनाके सम्बन्धमें, भगवती आराधना महाशास्त्र की गाथा २०६ में, संक्षेपमें जो उल्लेख हुआ है वह ध्यान देने योग्य है—

"सल्लेहणा य दुविहा, अब्भंतरिया य बाहिरा चेव ।
अभ्यंतरा कसायेसु, बाहिरा होदि हु सरीरे ।।"

अर्थात् सल्लेखना दो प्रकारकी है । अभ्यन्तर और बाह्य । इनमें अभ्यन्तर सल्लेखना तो कषायों में होती है और बाह्य-सल्लेखना शरीर में । उपरोक्त लक्षणमें कषायोंको कृश-क्षीण करना तो आभ्यन्तर सल्लेखना है और शरीरको कृश करना, बाहय सल्लेखना ।

श्रीपूज्यपादाचार्यने सर्वार्थसिद्धि अध्याय ६ का सूत्र २२ की टीका करते हुये लिखा हैं-"सम्यक् काय-कषाय-लखना सल्लेखना ।"

अर्थात् भली प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना-कृश करना, सल्लेखना है। अर्थात् बाहरी शरीर का और भीतरी-कषायोंका उत्तरोत्तर, काय और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों-को घटाते हुये, भले प्रकार से लेखन करना-कृश करना सल्लेखना है।

"कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणाँ तत्कारण-हापन-क्रमेण सम्यग् लेखना सल्लेखना।"

सल्लेखना–धारीको निम्न दोषों-अतिचारोंसे बचना जरुरी है। श्रीउमास्वामी महाराज लिखते हैं—

"जीवित–मरणाऽऽशंसा-मित्रानुराग-सुखानुऽबंध-निदानानि ॥३७॥"

त० सू० अ० ७

अर्थात् सल्लेखना करने वाला, व्यक्ति जीवित रहने की इच्छा जल्दी मरनेकी इच्छा, मित्रोंका अनुराग पूर्व सुखोंका स्मरण और निदान (आगामी सुखों की आकांक्षा) रूप दोष से दूर रहे।

यही बात स्वामी समंतभद्रने भी लिखी है। हां मात्र इतना अन्तर पाया जाता है कि इन्होंने सुखानुबंधकी जगह भय नाम का दोष लिखा है।

"जीवित मरणाऽशंसे, भय-मित्रस्मृति-निदाननामानः।
सल्लेखनाऽतिचाराः, पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९॥

रत्न० क० श्रा०

इसका शुद्ध पद्यानुवाद इस प्रकार है—

"जीना चहना मरना चहना, डरना मित्र याद करना।
भावी भोग वांछना करना, हैं अतिचार इन्हें तजना॥

इन दोषोंको टालकर सल्लेखना करनेसे ही यथाशीघ्र मुक्ति प्राप्त होती है ।

समाधि भक्तिमें पूज्यपादाचार्यने कितनी महत्वपूर्ण बात लिखी है—

"गुरुमूले यतिनिचिते, चैत्यसिद्धान्तवार्धिसद्घोषे ।
मम भवतु जन्म-जन्मनि, सन्यसन-समन्वितं मरणं ॥'

अर्थात् हे सर्वज्ञ वीतराग भगवान ! मुनिसमूहसे वैष्टित, गुरु के पादमूलमें जिन प्रतिमाके निकट तथा जहां पर सिद्धान्त रूपी समुद्रके गम्भीर शब्द हो रहे हों, ऐसे स्थानमें, मेरा भव-भवमें सन्यास सहित मरण (समाधि मरण) होवे ।

इसी प्रकार आगे लिखा है—

"आबाल्याज्जिन देव-देव भवतः, श्रीपादयोः सेवया ।
सेवाऽऽसक्त विनेय कल्पलतया, कालोद्ययावद्गतः ॥"

त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राण-प्रयाण क्षणे ।
त्वन्नाम-प्रतिबद्ध वर्ण पठने, कण्ठोऽस्त्वकुन्ठो मम ॥"

अर्थात् हे वीतराग देव ! भक्तिमें आसक्त, भव्य-जीवोंको, कल्पलताके समान, आपके शोभायमान दोनों चरणोंकी भक्ति करते हुये मेरा वालकपनसे अब तक जो काल व्यतीत हुआ हैं, इस लिए आज आपसे उस भक्ति का यही फल चाहता हूं कि अन्तिम समय (समाधिमरणके समय) आपका नाम उच्चारण करनेमें मेरा कण्ठ रुके नहीं । अन्तिम समय तक आपका नाम स्मरण करता रहूं ।

मृत्यु महोत्सव पाठमें यह बात लिखी है कि सल्लेखना धारी को भीरु (डरपोक) नहीं होना चाहिये, जिसे स्वामी समन्त-

भद्रने एक 'भय' नाम का अतिचार माना है । श्लोक इस प्रकार है—

"अतिपरिचितेष्ववज्ञा, नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः ।
चिरतर-शरीर-नाशे, नवतरलाभे च किं भीरुः ॥"

अर्थात् यह सूक्ति सही है कि अति-परिचितमें अवज्ञा और नयेमें प्रीति' होती है । अतः पुराने शरीरके नाश होने पर जब नवीन शरीर प्राप्त होता हैं, तो क्यों डरना ? अर्थात् मृत्यु से नहीं घबडाना चाहिये । फिर सल्लेखना पूर्वक शरीर छोड़ने से तो निकट भवोंमें मुक्ति लाभ होता है ।

इस सम्बन्धमें आचार्य विद्यासागरजी रचित निजानुभव शतक का निम्न ८२ वां छन्दभी चिर स्मरणीय है—

"ज्ञानी कभी मरण से डरते नहीं हैं,
तो चाहते सुचिर जीवन भी नहीं हैं ।
वे मानते मरण-जीवन देह के हैं,
ऐसा निरन्तर सुचिंतन वे करे हैं ॥

—अलमतिविस्तरेण

—: सुख-प्राप्ति का उपाय :—
(ध्यान)

भव्यात्माओं ! प्रकरण प्रस्तुत है, ध्यानका क्योंकि आप-हम सभी, सुख चाहते हैं। सुख की प्राप्ति बिना ध्यानके नहीं होती। ध्यान-रूपी अग्निसे ही सर्व-कर्मोंका नाश होता है। लिखा भी है—

"ध्यानाग्निः सर्व-कर्माणि, भस्मसात् कुरुते क्षणात्"

अर्थात् ध्यान रूपी अग्नि, सम्पूर्ण-कर्मोंको क्षणमात्रमें नष्ट कर देती है। इसीलिए एक कविने भी लिखा है—

"ध्यान-धनुष को थामि ले, ज्ञान-बाण दे तान।
कर्म-शत्रुको मारिदे, तो पावे निर्वाण ॥"

ध्यानके सम्बन्धमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने मोक्षपाहुडमें उल्लेख किया है—

"भरहे दुस्सम-काले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्प सहावठिदे, ण हु मण्णइ सोवि अण्णाणी ॥७६॥"

अर्थात् इस भरतक्षेत्रमें, इस दुःषमपंचमकाल-कलियुगमें भी, अपने आत्म-स्वभाव में स्थित रहने वाले साधुके, धर्म-ध्यान होता है। जो इस सिद्धान्त वाक्यको नहीं मानता है, वह अज्ञानी है।

आगेभी आचार्यश्री ने इस सम्बन्धमें महत्वपूर्ण बात लिखी है—

"अज्जवि तिरयण सुद्धा, अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं, तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥"

अर्थात् इस वर्तमान पंचमकालमें भी, जो त्रिरत्न-रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से शुद्ध हैं, वे आत्मा का ध्यान करके, इन्द्रपद और लौकांतिक पदको धारण करते हैं तथा फिर एकही भवमें नियमसे मुक्ति-मोक्ष प्राप्त करते हैं।

महर्षि श्रीउमास्वामीने ध्यानकी परिभाषा करते हुए, तत्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्रमें उल्लेख किया है—

"उत्तम-संहननस्यैकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्"
अ० ६ सूत्र २५.

अर्थात् उत्तम संहननधारीके, जो अन्तर्मुहूर्त तक, एकाग्रचिन्ता निरोध करने स्वरूप होता है, वह ध्यान है।

स्वामी-कार्तिकेयानुप्रेक्षामें, ध्यानका लक्षण इस प्रकार सूचित किया है—

"अंतोमुहुत्तमेत्तं, लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
ज्झाणं भण्णदि समये, असुहं सुहं च तं दुविहं ॥४६८॥"

अर्थात् जो मानस-मन सम्बन्धी ज्ञान; वस्तुमें अन्तर्मुहूर्त मात्र लीन होता है, आगममें उसे ध्यान कहते हैं और वह ध्यान, शुभ तथा अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। इनमें शुभ-ध्यानके भी दो भेद (धर्म्यध्यान, शुक्ल ध्यान) हैं और ये दोनों ही मुक्तिके कारण हैं। सो ही तत्वार्थसूत्र में समझाया है—"परेमोक्ष-हेतु" (अ० ६ सूत्र-२६). अर्थात् धर्म-ध्यान और शुक्ल—ध्यान ये दोनों ही, मोक्षके कारण हैं।

ध्यानकी विधि द्रव्यसंग्रह महाशास्त्रमें इस प्रकार बताई है--

"मा मुज्झह मा रज्जह, मा, दुस्सह इट्ठ-णिट्ठ-अत्थेसु ।
थिरमिच्छह जइ चित्त, विचित्त-झाणप्पसिद्धीए ।।४८।।"

अर्थात् पहले अनेक प्रकारका ध्यान करनेके लिये, यदि मन को स्थिर करना चाहते हो, तो संसारके इष्ट-अनिष्ट अदार्थोंमें, मोह-राग-द्वेष मत करो । क्योंकि पदार्थ जितनेभी हैं वे स्व-स्वभाव स्वरूप हैं । वे किसीको जबरन राग-द्वेष नहीं कराते ।

ध्यान के लिये, अगली गाथा में जो समझाया गया है, उसका भाव यह है कि ३५, १६, ६, ५, ४, २ और एक आदि परमेष्ठी-वाचक मंत्रोंका जाप करना चाहिये । इनसे शनैः शनैःमन स्थिर होता चला जाता है ।

आगे गाथा छप्पनमें और भी समझाया है कि—

"करो न चेष्टा, बोलोभी मत, सोचोभी मत हे आतम ।
होजाओ तल्लीन स्वयं में, फिरतो तुमही परमातम ।।"

इसी महाशास्त्र में जो ध्यान की सरल-विधि गाथा पचपन से झलकती है उसका भाव यह है कि मनको स्थिर करके, कुछभी चिन्तवन-विचार करो, लेकिन उस चितवन में, निस्पृह वृत्ति होनी चाहिये । कोई भी प्रकार को कामना या इच्छा (आकांक्षा) नहीं होनी चाहिए ।

तत्वानुशासनमें ध्यानके लिये, निम्न सामग्रीका होना आवश्यक बताया है—

"संग-त्यागः कषायाणां, निग्रहो व्रत-धारणं ।

मनोक्षाणां जयश्चेति, सामग्री ध्यान-जन्मने ॥"

अर्थात् जो ध्यान करना चाहता है, उसे परिग्रह का त्यागी होना चाहिए, कषायोंका निग्रह करने वाला होना चाहिये, व्रतोंका धारक होना चाहिये और मन तथा इंद्रियोंको जय करने वाला होना चाहिये । इसी प्रकार एक आचार्यश्री ने उल्लेख किया है कि—

"वैराग्यं तत्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं वश-चित्तता ॥
जित-परीषहत्वं च, पंचैते ध्यानःहेतवः ।"

अर्थात् वैराग्य भावका होना, तत्वोंका विशेषज्ञान होना, निर्ग्रन्थ होना, मनका वशीभूत होना और परीषहजयी होना, ये पांच, ध्यानके हेतु–साधन हैं ।

कविवर दौलतरामजी ने स्वरूपाचरण चरित्र के प्रसंगमें, छहढाला की छट्ठी ढालमें, जो ध्यानके विषयमें लिखा है, वे पंक्तियां विशेष ध्यान देने योग्य हैं । वे लिखते हैं—

"जिन परम-पैनी सुबुधि-छैनी, डारि अन्तर भेदिया ।
वरणादि अरु रागादितैं, निज-भावको न्यारा किया ॥

निजमांहि निजके हेतु निज-कर, आपको आपे गह्यो ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यो" ॥८॥

आगे वे और भी लिखते हैं—

"जहं ध्यान ध्याता ध्येयको न, विकल्प वच-भेद न जहां ।
चिद्‌भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहां ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध,-उपयोगकी निश्चल दसा ।
प्रकटी जहां द्रगज्ञान व्रत ये, तीनधा एकै लसा ॥९॥

और अन्त में वे इस प्रसंगमें लिखते हैं कि—

"परमाण नय निक्षेपको न, उद्योत अनुभव में दिखें।
दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहीं आन-भावजु मोविखें ॥

मैं साध्य-साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितें ।
चित् पिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुण, करण्ड च्युत पुनि कलनितें ॥१०॥

कविवर द्वारा स्वरूपाचरण चारित्ररूप ध्यानका जो माहात्म्य, निम्न पंक्तियों में प्रदर्शित किया है, वह भी वास्तवमें चिन्तनीय है । वे लिखते हैं–

"यों चिन्त्य निजमें थिरभये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो ।
सौ इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो ॥
तबही शुक्ल-ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो ।
सब लख्यो केवल ज्ञान करि, भविलोक को शिवमग कह्यो ॥११॥

हमारे गुरु आचार्य श्रीमहावीर कीर्तिजी महाराज, (जो कि इस शताब्दी के सर्वप्रथम परम्पराचार्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री आदिसागर महाराज अंकलीकरके पट्टाधीश शिष्य थे) ध्यान के प्रसंग में "नासाग्रद्रष्टि का अभ्यास करना" इस पर बहुत बल देते थे अर्थात् दोनों नेत्रोंकी द्रष्टि को नासिकाके अग्र भागमें रखने का बार-बार अभ्यास करना । वे स्वयं घण्टों इसका अभ्यास किया करते थे । हमनेभी उनके कथनानुसार काफी अभ्यास किया और मनकी एकाग्रता के सम्बन्धमें बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की है ।

वे कहते थे कि दिगम्बर ध्यानस्थ प्रतिमाओं-मूर्तिओंकी द्रष्टि, नासाग्रही होती है। भले ही वह मूर्ति पद्मासन हो या खड्गासन। नासाग्रद्रष्टि की पुष्टि श्रीगीताजीमें भी निम्न प्रकार हुई है—

"समं कायं शिरोग्रीवं, धारयन्नचल-स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्यनासिकाग्रस्वं, दिशश्चाऽनवलोकयन् ॥"

अतः हमारा कर्तव्य है कि, नासाग्रद्रष्टि और पैंतीस अक्षर आदि मंत्रोच्चारण आदि ध्यान विधि का अनुसरण करके, मनकी एकाग्रता रूप ध्यानको प्राप्त करें। ध्यानकी सिद्धि होते ही; आनन्द ही आनन्द, शांति ही शांति और सुख ही सुख का अनुभव होने लगता है। फिर किसी भी प्रकारकी आकुलता नहीं रहती। वीतराग स्तुति में जो यह उल्लेख है और जिसे आप हम समय-समय पर पढ़ा करते हैं कि—

"आतम के अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूं आपमें आप लीन, सो करो होऊं ज्यों निजाधीन ॥"

इसकी, ध्यान से नियम पूर्वक सिद्धि होती है। साथ ही छह-ढाला की अन्तिम-ढाल और अन्तिम-छन्दकी प्रथम दो पंक्ति रूप सदुपदेशकी भी प्राप्ति होती है। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"यह राग-आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग निज-पद बेइये ॥"

अर्थात् यह, रागरूपी अग्नि इस जीव को अनादिकाल से निरन्तर जला रही है। इसलिए समता रूपी अमृतका पान करना चाहिये। हे जीव ! तूने अनादिकाल से विषय और कषायोंका

सेवन किया है। अब तो तू इनको त्याग और अपने आत्म-स्वरूपको पहिचान कर उसमें तल्लीन हो।

इस सम्बन्धमें हमें कविवर बनारसीदासजी का निम्न सवैया भी स्मरण रखना चाहिये—
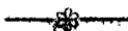
"भैया! जगवासी तू उदासी हो के जगत सों,
एक छह महीनां उपदेश मेरो मान रे।
और संकल्प-विकल्प के विकार तजि,
बैठिकें एकान्त-मन एक ठौर आन रे॥
तेरो घट सरतामें तूही है कमल ताको,
तू ही मधुकर व्है सुवास पहिचान रे।
प्रापति न हो है कछु ऐसो तू विचारत है,
सही हो है प्रापति स्वरूप यों हो जान रे॥

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार गाथा दो सौ छह में, जो हम संसारी प्राणियोंको, इस विषयमें करुणा पूर्वक चेतावनी दी है, उसे हमें कभी नहीं विस्मरण करना चाहिये। वह गाथा इस प्रकार है—

"एदम्हि रदो णिच्च, संतुट्ठो होहि णिच्चमेवम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होदि तुह उत्तमं सोक्खं॥"

अर्थात् हे भव्यात्मा! तू अपने इस ज्ञान-स्वभाव आत्मामें ही सदा काल तल्लीन होकर रह। उसी में तू सन्तुष्ट हो तथा सदैव उसी में तृप्त रह। इसीसे तुझे उत्तम आत्मिक सुखकी प्राप्ति होगी।

—अजमति विस्तरेण

मानव-जीवन की सफलता: पंडित होने से

(यह प्रवचन हमने पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री महावीर कीर्ति-जी महाराजसे दो-तीन बार सुना था। महत्वपूर्ण होनेसे इसमें प्रकाशित किया जा रहा है।)

प्राचीन-संस्कृतिसे चला आया, 'पंडित' यह एक बहुत ही सुहावना शब्द है। विरले भाग्यशाली ही इस शब्दसे सम्बोधित होते हैं। अनेक-व्यक्ति ऐसे हैं, जो पंडित बनने की कोशिश करते हैं, लेकिन बन नहीं पाते। कोई-कोई ऐसे भी पंडित हैं, जो इस पद को बुरा मानते हैं। एक बार एक पंडित जी ने सुनाया था—

पंडिताई पल्ले पड़ी, पूर्व जन्म को पाप।
औरन को उपदेश दे, कोरे रह गये आप।।

एक जगह आया है—'पंडा विद्यते यस्य सः पंडितः' अर्थात् जिसके बुद्धि हो वह पंडित है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टिसे विचारा जाय तो ऐसा कोई प्राणी है नहीं कि जिसके बुद्धि अर्थात् ज्ञान न हो। सूक्ष्मसे सूक्ष्म जीवोंमें भी महर्षियोंने मति और श्रुत ये दो ज्ञान माने हैं। अतः इस परिभाषाके अनुसार सभी प्राणी पंडित कहे जायेंगे। इसलिए मात्र ज्ञान होनेसे कोई पंडित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार एक जगह पढ़नेमें आया है—

'पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते'

अर्थात्—राजा भोज के दिवंगत (स्वर्गस्थ) हो जानेके बाद कोई पण्डित नहीं रहा।

राजा-भोज, संस्कृत भाषा का प्रकाण्ड विद्वान् था। इतना ही नहीं, उसके समयमें दीन से दीन व्यक्तिभी संस्कृत-भाषाका शुद्ध उच्चारण करता था और उसके स्वर्गस्थ हो जाने के बाद वह स्थिति नहीं रही। अतः संसार में उपरोक्त उक्ति प्रसिद्ध हुई।

परन्तु यहां विचारणीय है कि मात्र संस्कृत-भाषाका विशेष ज्ञान होनेसे भी कोई पंडित नहीं होता। इसी प्रकार; प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, मराठी, कनड, तेलगू, गुजराती आदि एक-एक भाषा का अथवा दो आदि सम्पूर्ण भाषाओं का भी यदि कोई प्रकाण्ड-विद्वान हो, तो भी वह पण्डित नहीं कहला सकता।

विश्वमें अच्छेसे अच्छे वक्ता-प्रवचनकर्ता होते आये हैं और वर्तमान में भी हजारों हैं, परन्तु मात्र घण्टों तक धाराप्रवाही प्रवचन कर देने अथवा अपनी वक्तृत्व शैलो द्वारा, हजारों नर-नारियोंको मंत्रमुग्ध कर देने से पंडित नहीं कहला सकते। हां! निम्न लक्षणवाला पंडित कहला सकता है—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु, यः पश्यति सः पण्डितः॥

अर्थात्—जो पराई स्त्रियोंको माताके समान, दूसरे के धन का लोष्ठ के समान और प्राणीमात्र को अपने समान समझता है, वह पण्डित है।

प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका ग्रन्थमें आया है—'कः पण्डितो? विवेकी' अर्थात् पण्डित कौन है? जो विवेकी—हित और अहितका विचार रखने वाला है वह पण्डित है।

एक बार मूर्खका लक्षण मालूम करनेके लिए राजा भोजने भरी सभा में पण्डित कालीदासको मूर्ख कहकर बुलाया था कि 'आइये मूर्खराज! आइये मूर्खराज!' इस पर विद्वान् कालीदास ने उत्तर दिया था—

खादन्न गच्छामि, हसन्न जल्पे,
गतन्न शोचामि, कृतन्तु मन्ये।
द्वाभ्यां त्रितयो न भवामि राजन्!
किं कारणं भोज! भवामि मूर्खः॥

अर्थात्—हे राजा भोज ! मैं खाते हुए नहीं चलता, हंसते हुए बात नहीं करता, जो हो चुका उसका शोक नहीं करता, उपकारी के उपकारको नहीं भूलता और जहां दो व्यक्ति बात करते हों वहां नहीं जाता, फिर आपने मुझे मूर्ख कहकर कैसे बुलाया ? कालीदासके उक्त-कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जो चलते हुए नहीं खाता, बात करते समय नहीं हंसता, हो चुका उसका शोक नहीं करता, उपकारी के उपकार को कभी नहीं भूलता और जहां दो व्यक्ति बात कर रहे हों वहां नहीं जाता, वह पण्डित है ।

परमानन्द-स्तोत्रमें पण्डितका बहुतही सुन्दर लक्षण आया है । उसमें लिखा है—

सदाऽऽनन्दमयं जीवं, यो जानाति सः पण्डितः ।
स सेवते निजाऽऽत्मानं, परमानन्द-कारणम् ॥

अर्थात्—पण्डित वह हैं जो कि जीवको नित्य-आनन्दमय जानता है तथा परमानन्दके कारणभूत उस निज-आत्माको ही सेवता-अनुभव करता है ।

आगे उसी स्तोत्र के तेईसवें श्लोकमें भी पंडितका लक्षण आया है, जो कि विशेष आदरणीय है । वहां लिखा है—

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति सः पंडितः ॥

अर्थात्—जिस तरह सुवर्णखान के पाषाणों में सुवर्ण, दुग्ध में घृत और तिलमें तैल विद्यमान है, उसी तरह शरीरमें भी, शिव अर्थात् शांतस्वभावी आत्मा विद्यमान है । इसी प्रकार, जैसे काष्ठ में अग्नि शक्तिरूपसे विद्यमान है, उसी-प्रकार शरीरोंमें भी आत्मा विद्यमान है और ऐसा जानने वाला ही पण्डित हैं ।

सारांश यह है कि मनुष्य-पर्यायको प्राप्त करके, पण्डित वही कहलाने योग्य है, जिसमें उपरोक्त बातें हों।

किसी मुर्देको ले जाते देखकर, पण्डित-व्यक्ति यह नहीं मानता, कि अमुक मर गया है। वह तो सोचता है कि जिस-प्रकार वस्त्र फट जाने पर, या पुराने हो जाने पर, बदल लिये जाते हे या नये धारण कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार इस मुर्दे शरीर के बेकाम हो जानेसे, इसमें रहने वाला, शाश्वत् आत्मा-जीवभी इसे छोड़कर नये शरीर को धारण करने चला गया है। पण्डित-व्यक्ति, यह भी दृढ़ निश्चय रखता है, कि किसीभी आत्माको कोई शस्त्र छेद-भेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा उसे सोख या सुखा नहीं सकती। हां, उक्त-हेतु जो कुछ बिगाड़ करते हैं, वे शरीरका ही करते हैं। आत्माका तनिक भी नहीं।

'जातस्य हि ध्रूवो मृत्युः' के अटल-सिद्धान्तानुसार, जो संसार में जन्म लेता है, वह एक-दिन प्राप्त हुए शरीर को अवश्य छोड़ता है और संसारमें इसीको मरण कहा है। महर्षियों ने इस मरणके अनेक प्रकार बताये हैं, जिनमें तीन मरण ही प्रशंसनीय तथा श्रेष्ठ हैं। सो ही बताया है—

पंडिद-पंडिद मरणं, च पंडिदं बालपंडिद चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि, जिणा णिच्चं पसंसंति॥

अर्थात्—पंडितपंडित मरण, पंडित मरण और बालपंडित मरण ये तीन मरण जिनेन्द्रदेव ने सदा प्रशंसनीय कहे हैं।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि अन्य जितनेभी मरणके भेद है, उनमें से किसी भी नाम में 'पण्डित' शब्द नहीं आया, जबकि उपरोक्त तीनों मरणों में यह शब्द पाया जाता है। अतः इन तीनों मरणोंसे अलग मरण करने वाला, शास्त्रीय-विचारधारासे पण्डित नहीं कहला सकता। हां इतना अवश्य है कि प्रथम 'पण्डितपण्डित-

मरण' करने वाला महान् पण्डित है जिसे फिर कभी संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता। दूसरा 'पंडितमरण' करने वाला मध्यम श्रेणीका पंडित है जो कि परमहंस दिगम्बर अवस्थामें शान्तिपूर्वक शरीरका त्याग करता है और तीसरा 'बालपण्डितमरण' करने वाला जघन्य-श्रेणीका पण्डित है, जो कि गृहस्थावस्थामें रहकर व्रती अवस्थामें ही शरीर त्यागता है।

उपरोक्त कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट है, कि मानवको; विवेकी, स्वपर का ज्ञाता, निर्लोभी, चरित्रवान, समद्रष्टि एवं स्वयं आनन्दमय जानने वाला होने के साथ-साथ, अहिंसा आदि व्रतोंके नियमपूर्वक पालन करने पर ही पंडित-संज्ञा प्रारम्भ होती है।

संसार का प्रत्येक मानव अपनेको पण्डित कहलानेकी इच्छा रखता है और वास्तवमें ऐसी इच्छा रखनीभी चाहिये, क्योंकि पण्डित-संज्ञा प्राप्त किये बिना, सच्चे-सुखकी प्राप्तिका लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। पर हम अपने-अपने हृदय पर हाथ रखकर देखें, कि पण्डितसंज्ञा प्राप्त करनेके लिये जो बातें बताई हैं, उनमेंसे स्वयं में कौन-कौन विद्यमान हैं? यदि एक भी नहीं तो उन्हें जीवनमें लानेकी कोशिश करें। इसीमें मानव जीवन की सफलता है।

इस शताब्दी में सर्वप्रथम महान् आचार्य-श्रीआदिसागरजी महाराज (अंकलीकर) हुये हैं जिन्होंने अपना आचार्यपद, बहुभाषाविद्, आध्यात्मिक संत श्रीमहावीर कीर्तिजी महाराजको दिया था।

-: स्वाध्याय : एक परम-आवश्यक :-

प्रकट होय स्वाध्याय से, तृतिय-नेत्र जो ज्ञान ।
इसही ज्ञान सु नेत्रसे, होवे केवल-ज्ञान ।।

स्व और अध्याय इन दो शब्दोंके मेलसे, 'स्वाध्याय' शब्द बना है । स्व का अर्थ-मतलब है, आत्मा और अध्याय का अर्थ है, निकटमें पहुंचना । इस प्रकार स्वाध्याय का अर्थ हुआ, 'आत्माके निकट पहुंचना' अर्थात् अपने आत्म-स्वभाव में लीन होना । आत्म-स्वभावमें बार-बार रमण करना ।

"स्वाध्याय" शब्दका एक सरल-अर्थ यहभी है, कि जो भगवान-वीतराग-सर्वज्ञदेवकी वाणी, सत्शास्त्रोंके रूप में है; उसे पढ़ना, सुनना और समझना, क्योंकि सत्शास्त्रों के पढ़ने-सुनने से ही अपने आत्माको जाना-पहिचाना जाता है और पश्चात् फिर उसके निकट पहुंचना होता है ।

अपने-आप, अपने लिये, स्वयमेव अध्ययन-चिंतन-मनन करना भी स्वाध्याय है । दिगम्बर-महर्षियोंने; सद्गृहस्थ-श्रावकके दैनिक छह आवश्यक-कर्मोंमें इसे तृतीय आवश्यक-कर्म माना है । श्लोक इस प्रकार है ।

"देव-पूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिने ।।"

इतना ही नहीं अपितु सन्यास-अवस्थामें मुनियों साधुपर-मेठिष्यों के छह-आवश्यक कर्मों मे भी इसे आवश्यक (अवश्य करने योग्य) माना है । इसका विवेचन मुनिधर्म-विषयक छहढाला की छठी ढाल में 'नित करैं श्रुतिरति' वाक्य द्वारा हुआ है ।

आचार्य-परमेष्ठीके छत्तीस मूलगुणोंमें जो बारह-प्रकार के

तपश्चरण का विधान है, उनमें 'स्वाध्याय' को एक 'आभ्यन्तर तप' उद्घोषित किया है। तीर्थंकर-नामक परम-पुण्य प्रकृतिकी कारण-भूत जो सोलह कारण भावनायें हैं, उनमें चतुर्थ 'अभीक्षणज्ञानोपयोग भावना' (निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करना) है, इसका सम्बन्धभी स्वाध्याय से ही है। सोलहकारण पूजनमें उल्लेख है—

"ज्ञानाभ्यास करे जो प्राणी, ताके मोह-महातम नाहीं"

अर्थात् जो प्राणी ज्ञान का अभ्यास-स्वाध्याय करता रहता है, उसके महान कष्टका कारण जो मोह-मिथ्यात्व रूप महान् अंधकार है, वह टिकता नहीं। षोडशकारण भावनामें भी आया है—

"आगम कथित तत्त्व अवधार, यथाशक्ति निज-बुधि अनुसार।
करे निरंतर ज्ञान अभ्यास, तुरिये-भावना कहिये तास ।।"

अर्थात् देवाधिदेव श्रीवीतराग-भगवानकी वाणीही मुझ आत्माका कल्याण करने वाली है" ऐसा निश्चय कर जो यथाशक्ति, अपनी बुद्धिके अनुसार निरन्तर ज्ञानका अभ्यास करना, चतुर्थ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग-भावना है और यह ज्ञानोपयोग अपेक्षा से स्वाध्याय के रूपमें ही है।

वास्तवमें स्वाध्यायका सम्बन्ध, अधिकांश रूप में, सद्ग्रन्थों के पठन-चिन्तन के साथ-साथ, अपने आत्मा से है।"स्वस्मैं हितोऽध्याय: स्वाध्याय:" अर्थात् अपने आत्माके लिये कल्याणकारी-पठन चिंतनही स्वाध्याय है, ऐसा चारित्रसार महाशास्त्र में आया है। स्वाध्याय-शब्दकी व्युत्पत्ति-परक व्याख्या इस प्रकार है—

"सुसम्यक् रीत्या आसमन्तात् अधीयते इति स्वाध्याय:"

अर्थात् भली प्रकार-मन वचन कायकी शुद्धि एवं एकाग्रता पूर्वक, किसीभी सत्शास्त्रका प्रारम्भसे अन्त तक पढ़ना-सुनना व अध्ययन करना स्वाध्याय है।

'सुष्ठु प्रज्ञातिशयार्थं प्रशस्ताध्यवसायार्थं, परम-संवेगार्थं तपोवृद्धयर्थं अतिचार-विशुध्यर्थं अधीयते ह्यात्मतत्त्वं जिन-वचनं वा इति स्वाध्यायः' यह भी स्वाध्याय-शब्द की व्युत्पत्ति-परक (प्रयोजन-भूत) व्याख्या है। इसका भावार्थ है—बुद्धि को विकसित करनेके लिये, शुभ अध्यवसायके लिये, उत्कृष्ट संवेगके लिये, तपश्चरणकी वृद्धिके लिये, अतिचार-दोष दूर करने के लिये तथा स्व आत्मतत्व का अथवा जिनेन्द्रदेव की वाणी का, अध्ययन व पठन-पाठन करना स्वाध्याय है।

सर्वार्थसिद्धि महाशास्त्रके रचयिता श्रीपूज्यपादस्वामीने स्वध्याय का लक्षण इस प्रकार किया है—'ज्ञान-भावनाऽऽलस्य-त्यागः स्वाध्यायः' (अ० ६ सूत्र २०) अर्थात् ज्ञान प्राप्ति की भावना से आलस्य-प्रमादको तिलांजलि देना स्वाध्याय है।

"स्वाध्यायः परमः तावज् जपः पंच-नमस्कृतेः ।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्त, शास्त्रस्यैकाग्र-चेतसा ।।"

अर्थात् एकाग्र चित्त होकर, पंच-नमस्कार मंत्रका जाप्य करना, अथवा श्रीजिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म-शास्त्रका पढ़ना, 'स्वाध्याय' है, यह तत्वानुशासनके रचयिता ने लिखा है। श्रीशुभ-चन्द्राचार्यने जो ज्ञानार्णव में उल्लेख किया है, वहभी ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"प्रबोधाय विवेकाय, हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्-तत्त्वोपदेशाय, सतां सुक्तिः प्रवर्तते ।।"

अर्थात् स्वाध्याय करनेसे प्रकृष्ट-बोध, सम्यज्ञानकी प्राप्ति होती है, विवेक (हित-अहित का ज्ञान) जाग्रत होता है। आत्मा का कल्याण होता है। सम्यदर्शनकी प्राप्ति में प्रथम कारण रूप, 'प्रशम-गुण' की प्राप्ति होती है, तत्वों के सही उपदेश करने की सामर्थ्य-

शक्ति प्रकट होती है तथा स्वाध्याय से ही, सज्जन-पुरुषों को मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

संसार के सभी दर्शन (सम्प्रदाय) मत-धर्म, इस पर विशेष बल देते हैं कि जीवात्मा को अपने स्वरूप की पहिचान-जानकारी होनी चाहिये । जैन-आगम सम्बोधन करते हैं—

'अप्पाणं विजाणीहि' तो उपनिषद् उद्घोष करते हैं–'आत्मानं विद्धि,' साथ ही बुद्धजी कहते हैं—'अत्तदीपो भव,' एवं जीसस-क्राइस्ट लिखते हैं—'KNOW THYSELF' अपने को, स्वयं आत्माको जानो और यह सब स्वाध्याय से ही संभव है ।

हमारे ऋषि-महर्षि आचार्योंने, बहुत कुछ सोच समझकर तथा अनुभव करके यह 'स्वाध्याय' शब्द लिखा है और 'स्वाध्यायः परमं तपः' ऐसा लिखकर, इसे उत्कृष्ट तप बतलाया है। पर केवल शास्त्र को पढ़ लेना अथवा किसी प्रकार कानों से सुन लेना या कण्ठस्थ कर लेना ही, स्वाध्याय नहीं है, अपितु सच्चा-स्वाध्याय वही है, कि जिससे प्राप्त ज्ञान, जीवनमें उतर आवे । मात्र शास्त्रज्ञान का बोझा ढोना, स्वाध्याय नहीं है ।

निश्चय की अपेक्षा स्वाध्याय, स्वयं-अपने आप ही होता है, स्वयं के लिये ही होता है, तथा स्वयं का ही होता है । हाँ इसके साधनभूत, श्रीवीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी-जिनवाणी का पठन-पाठन सुनना-सुनाना, समझना समझाना रूप स्वाध्याय, व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहा गया है ।

वास्तवमें स्वाध्यायके बिना, यह मानव शरीर पूर्व-संचित कर्मो का भार वहन करने का साधन मात्र है । यशस्तिलक-चम्पूके निम्न संस्कृत श्लोकसे यह स्पष्ट झलकता है—

"श्रुताय येषां न शरीर-वृद्धिः, श्रुतं चरित्राय च येषु नैव ।
तेषां बलित्वं ननु पूर्व-कर्म,-व्यापार-भारोद्वहनाय मन्ये ।।"

अतः हमारे मनुष्य-पर्याय प्राप्त करनेकी सार्थकता तभी संभव है कि प्रयत्न और पुरुषार्थ पूर्वक, सच्चे स्वाध्यायी बनें। गृह-स्थ हो या साधु-सन्त, सभीके लिये यह स्वाध्याय क्रिया परम आवश्-यक है।

तत्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र २५ में जो, श्रीउमास्वामी सूरिने, स्वाध्याय तपके पांच भेद दर्शाये हैं, उन्हें भी प्रकरण वश, भली प्रकार समझकर, हमें स्वाध्याय-शील होना चाहिये, सूत्र इस प्रकार है—

"वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽऽम्नाय-धर्मोपदेशाः।"

अर्थात् वीतराग भावसे, स्वपरके कल्याणका लक्ष्य रखते हुये, निर्दोष शास्त्रको, उसके अर्थको तथा दोनों को, पढना-पढ़ाना एवं सुनना-सुनाना 'वाचना' इस नाम से सूचित किया जाने वाला, स्वा-ध्यायका यह प्रथम अंग-भेद है। संशयका उन्मूलन करनेके लिये अथवा कृतनिश्चयको द्रढ़ करनेके लिये, गुरु आदि ज्ञानी जनोंसे प्रश्न करना 'पृच्छना' इस नाम से घोषित, स्वाध्याय का यह दूसरा अंग है। जाने हुये पदार्थका, अर्थका मनमें बार-बार चितवन-अभ्यास करना, 'अनुपेक्षा' इस नामसे पुकारा जाने वाला, स्वाध्यायका यह तीसरा भेद है। पठित-शास्त्र का, शुद्ध उच्चारण सहित बार-बार पढ़ना 'आम्नाय' इस नाम से सम्बोधित, स्वाध्यायका यह चतुर्थ अंग है। शास्त्रों से समझे व जाने हुये विषयों का उपदेश करना, 'धर्मोपदेश' इस नाम से उद्घोषित, 'स्वाध्याय' का यह पंचम अंग-भेद है।

इस प्रकार स्वाध्याय के ये पांच भेद हैं। इन पांचोंके होने पर ही, स्वाध्याय-क्रिया की सानंद पूर्णता होती है।

श्रीयोगीन्द्रदेव आचार्यने योगसार गाथा ४७ में जो 'धम्मु ण-पढियई होइ' उल्लेख किया है; उसका भाव यह है कि, मात्र धर्म-

शास्त्रोंके पढ़ लेनेसे, धर्म-आत्म-कल्याण नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रोंके पढ़ने-सुनने स्वाध्याय करनेसे, -राग-द्वेषादि विकारी भाव दूर होने चाहिये तथा निजात्माका श्रद्धान, ज्ञान एवं आचरण होना चाहिये और तभी शास्त्रों का स्वाध्याय करना, कार्यकारी-सफल है। आगे गाथा ५३ में भी स्पष्टीकरण किया है—

"सत्थु पढंतह तेवि जड, अप्पा जे ण मुणंति"

अर्थात् जो शास्त्रों को पढ़कर भी आत्माका अनुभव नहीं करते, वे जड़-अज्ञानी (मूर्ख) हैं। एक कविने लिखा है—

"पोथे पढ़-पढ़ जगमरा, पंडित भया न कोय।

ढाई अक्षर प्रेम का, पढे सो पंडित होय ॥"

इसी प्रकार एक अन्य कविने उद्घोष किया है—

"पढ़-पढ़कर पत्थर भये, गुन-गुनके भये ईंट।

सुन-सुनके गारा भये, रहे भींत के भींत ॥"

अत: हमें सत्शास्त्रोंके स्वाध्याय का प्रयोजन लक्ष्यमें रखते हुये, अपने क्षयोपक्षम के अनुसार,प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, इन चारों अनुयोगों के ग्रन्थोंको, पढ़ना-सुनना-समझना व चिंतवन करना चाहिये।

सत्शास्त्रोंका स्वाध्याय करनेके लिये, बल देते हुये, श्रीपूज्यपादाचार्य अपर नाम देवनंदि सूरिने, समाधिभक्ति (प्रिय-भक्ति) में जो घोषणा की है, उसका भाव यह है कि, जब तक मोक्ष की सम्प्राप्ति न हो तब तक 'शास्त्राभ्यासो' अर्थात् शास्त्रों का अभ्यास-स्वाध्याय होना चाहिये। इसका हिन्दी पद्यानुवाद एक कवि ने इस प्रकार लिखा है—

"सत्शास्त्रोंका पठन हो सुखदा"

कविवर पण्डित दौलतरामजी ने भी, गागर में सागर की

कहावत को चरितार्थ करने वाले छहढाला की चौथी ढालमें उद्घोष किया है कि—

"तातें जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे" तथा "सम्यक् साथे ज्ञान होय, पै भिन्न अराधो" स्वाध्याय का फल जो निम्न मुक्तकोमें उद्घोषित हुआ है, वह भी सचमुच में चिरस्मरणीय है—

१. स्वाध्याय वही, जो क्रोधादि कषाय मिटाता हो,
स्वाध्याय वही, जो नरकादि भ्रमण मिटाता हो ।
स्वाध्याय वही, जो पंचमगति-मोक्ष दिलाता हो,
स्वाध्याय वही, जो आत्माको परमात्मा बनाता हो ।।

२. स्वाध्याय वही, जो पापीको पुण्यात्मा बना देता हो,
स्वाध्याय वही, जो पुण्यात्माको धर्मात्मा बना देता हो ।
स्वाध्याय वही, जो धर्मात्माको महात्मा बना देता हो,
स्वाध्याय वही, जो महात्मा को सिद्धात्मा बना देता हो ।।

आगे और भी मुक्तक हैं—

१. स्वाध्याय वही, जो बहिरात्म-बुद्धि हटा देता हो,
स्वाध्याय वही, जो अन्तरात्मा बना देता हो ।
स्वाध्याय वही, जो कर्म-कर्मफल चेतना मिटाता हो,
स्वाध्याय वही, जो ज्ञान चेतना पूर्ण करा देता हो ।।

२. स्वाध्याय वही, जो स्व'परका विवेक कर देता हो,
स्वाध्याय वही, जो स्वको स्वमें टिका देता हो ।
स्वाध्याय वही, जो स्वके रागादि मिटा देता हो,
स्वाध्याय वही, जो निजात्माको परमात्मा बना देता हो ।

यह सुनिश्चित है कि स्वाध्यायसे ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञानकी महिमा किसीसे छिपी नहीं है । आचार्यवादीभसिंह ने क्षत्रचूड़ामणि में उल्लेख किया है—

"तत्वज्ञानं हि जीवानां, लोकद्वय-सुखावहं" लम्ब ३.

अर्थात् जीवोंके उभयलोक में सुखकारी, तत्वज्ञान ही है।

"तत्वज्ञान-विहीनानां, दुःखमेव हि शाश्वतं" लम्ब ६.

अर्थात् तत्वज्ञानसे रहित जीव, निरन्तर दुखी ही रहते हैं।

"तत्वज्ञान-विहीनानां, नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलं" लम्ब ६.

अर्थात् तत्वज्ञान से रहित मानवके, निर्गन्थपना (मुनीपन) भी निष्फल है।

"तत्वज्ञाने तिरोभावे, रागादि हि निरंकुशः" लम्ब ८.

अर्थात् तत्वज्ञानके अभावमें, रागादिक दोषोंकी प्रवृत्ति होती है।

स्वाध्यायके अभावमें यह जीव अज्ञानी बना रहता है। अज्ञान कितना भयंकर है, यह भी यहां इस प्रसंग में जानना आवश्यक है। वरांग चरित्र तृतीय सर्गमें आया है—

"नाऽज्ञानतोऽन्यद्, भयमस्ति किंचिद्,
नाऽज्ञानतोऽन्यच्च, तमोऽस्ति किंचित्।
नाऽज्ञानतोऽन्योरिपुरस्ति किंचित्,
नाऽज्ञानतोऽन्यो, ऽस्ति हि दुःख-हेतुः ॥५६॥

अर्थात् अज्ञानसे बढ़कर, न तो कोई भय है, न कोई अन्धकार है, न कोई शत्रु है और न कोई दुःखका ही कारण है। ऐसा यह अज्ञान, स्वाध्याय से विनाशको प्राप्त होता है।

इस स्वाध्यायके सम्बन्धमें एक कविकी कविता रूपमें दी जाने वाली चेतावनी भी निम्न-प्रकार प्रतिदिन पढ़कर चितवन करने योग्य है। इसे भजन रूप में भी गुनगुना सकते हैं—

स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो।
निज-धार्मिकज्ञान बढ़ानेको, संभव प्रत्येक उपाय करो॥ध्रुव॥

(१)

स्वाध्याय हमारे जीवनका, निर्माण निरन्तर करता है ।
इससेही अन्तस्‌की सम्यक्, श्रद्धाका रूप निखरता है ।।
इससे सद्‌भाव पनपता है, इससे आचरण सुधरता है ।
इससे ही जीवन में ऋषियोंका, उच्चादर्श उतरता है ।।
यही परिज्ञान करता है, सब जीवोंके संग न्याय करो ।।स्वा०।।

(२)

मानवको सच्ची मानवता, करती प्रदान है यही कला ।
वास्तव में पूछोतो सच्चे,-सुखकी निधान है यही कला ।।
सुन्दरं शिवं अरु सत्यंमय, सबसे प्रधान है यही कला ।
निज-कलाकारकी हित वांछक, माता-समान है यही कला ।।
यह कला बताती है सबको, तुम कभी नहीं अन्याय करो ।।स्वा०।।

(३)

ले नित्य-नियम कुछ छड़ियां अब, स्वाध्याय-निमित्त निकालो तुम ।
इस प्रमुख-क्रियाको नहीं कभी भी, यों प्रमादवश टालो तुम ।।
जिनवाणी पढ़कर तदनुरूप, जीवन-स्वरूपको ढालो तुम ।
जितना भी तुमसे सम्भव हो, उतना ही यह व्रत पालो तुम ।।
औ क्षमा शौच ऋजुता मृदुता, अपनाओ नहीं कषाय करो ।।स्वा०।।

(४)

स्वाध्याय तुम्हारे चिंतन की,धाराका रूप निखारेगा ।
स्वाध्याय तुम्हारे जीवनको, गुण-गणियोंसे शृंगारेगा ।।
स्वाध्याय तुम्हारे जीवनमें, सन्तों का धर्म उतारेगा ।
स्वाध्याय तुम्हारे प्रतिदिनके, अनुचित-व्यवहार सुधारेगा ।।
इससे स्वाध्याय बढ़ानेको, तुम प्रतिदिन अध्यवसाय करो ।।स्वा०।।

स्वाध्याय करनेमें न तो क्लेश है, और न धनका व्ययही है। देशान्तरमें गमन तथा याचनाकी कोई भी इसके लिये आवश्यकता नहीं है। इससे किसीके बलका क्षयभी नहीं होता। परको पीड़ाभी इससे नहीं होती। इससे भय एवं सावद्य (पाप) सर्वथा दूर रहते हैं। अतः जीवनके लिये स्वध्याय परम आवश्यक है। दर्शन-प्राभृतमें भी उल्लेख है—

"जिरा-वयणमोसहमिरां, विसय-सुह-विरेयणं अमियभूयं।
जर-मरण-वाहि-हरणं, खय-करणं सव्व-दुक्खाणं ॥१७॥"

अर्थात् श्रीजिनेन्द्र-भगवानकी वाणी,परम-औषधि रूप है। विषय-सुखों का त्याग करने वाली है। अमृत-तुल्य है। जरामरण रूप व्याधिका हरण करने वाली है तथा सम्पूर्ण-दुःखोंका क्षय करने वाली है, अतः कविवर पंडित दौलतरामजीके भजन की इस पंक्ति का भाव जीवनमें परिणत करने की अत्यन्त आवश्यकता है कि—

"जिनवाणी सुधा सम जानिकै, नित पीजो धी-धारी"

अर्थात् हे बुद्धिमानों! जिनवाणी को अमृत-तुल्य समझकर, इसका हमेशा रसास्वाद लेओ। निम्न दोहाभी इस सम्बन्धमें पुनः पुनः पठनीय है—

"पढ़े पढ़ावे शास्त्र यदि, होवे निर्मल-बुद्धि।
अनुक्रम से अहमिन्द्र हो, फिर होवेगी सिद्धि॥"

इत्यलम्

---❀---

आत्मा : एक-सर्वोत्कृष्ट-निधि

आतम-आतम सबही कहें, विरले समझें आतम।
जो आतम को समझ लें, शीघ्र होंय परमातम ।।

हाँ तो; सबही व्यक्ति, 'आतम, आतम' इस प्रकार मुखसे कहते हैं, परन्तु 'आतम' को समझने वाले, विरले-लाखों करोड़ों में से कोई-कोई ही हैं। वास्तव में यदि हम आतमको समझलें, तो परमात्मा होने में देरी न लगे।

प्रस्तुत-प्रसंग मैं नानाप्रकारसे आत्माको ही समझने-समझाने की कोशिश है। आत्मा को; जीव, चित्, चेतन, चैतन्य, चेतना, ब्रह्म, हंस आदि नामों से भी, पुकारा या समझा जाता है। आत्मा; अनन्त हैं, अनादि-काल से हैं और अनन्त-कालतक रहेंगे। अनादिसे अनन्तकाल-तक रहने वाले प्रत्येक-आत्मा, आत्मा ही हैं, ज्ञान-दर्शन स्वरूप ही हैं। कभीभी किसीभी दशामें अनात्मा (जड़, अचेतन) नहीं होते। जैनधर्मके अनुसार पंचास्तिकायोंमें प्रथम-अस्तिकाय 'आत्मा' (जीव) ही है।

छह-द्रव्योंमें पहला द्रव्य 'आत्मा' ही है।

सात-तत्त्वोंमें पहला तत्त्व 'आतम'-तत्त्व' ही है।

नव-पदार्थोंमें प्रथम-पदार्थ 'आत्मा' ही है।

सोचने-समझने, जानने-देखने और विचार करनेकी सामर्थ्य भी आत्मामें ही है। हलका, भारी, कोमल-कठोर, रूखा-चिकना और ठंडा-गरम; इन आठ-प्रकारके स्पर्शका ज्ञान करनेकी शक्ति भी, आत्मामें ही है। खट्टा-मीठा, कडुआ-चरपरा और कसायला; इन पांच-प्रकारके स्वादका ज्ञान करनेकी ताकतभी आत्माकी

ही है। सुगन्धको जाननेकी सामर्थ्यभी आत्मामें ही है। सफेद-काला, नीला-पीला आदि रंगको समझनेकी सामर्थ्यभी आत्मामें ही है तथा अनेक-प्रकारकी आवाज; भलेही वह रोनेकी हो या बिजलीकी अथवा मेघ-गर्जना आदिकी, इसका ज्ञान करनेकी शक्ति भी आत्मामें ही है। स्मरण–यादास्ती और बुद्धिरूप शक्तिभी आत्मामें ही है।

प्रत्येक–जीवात्मामें;-स्वाभाविक रूप से शाश्वत्–शुद्ध रहने की सामर्थ्य तो है ही, साथ ही मुक्तात्माओं (सिद्धों) के सिवाय शेष संसारी-आत्माओंमें, वैभाविक-विभावरूप-राग-द्वेषादि रूप परिण-मन करनेकी शक्तिभी विद्यमान है। इस शक्तिके होनेसे ही संसारी आत्मा, कभी नरक-अवस्था को, कभी तिर्यंच-दशाको, कभी मनुष्य-पर्यायको और कभी देवगतिको प्राप्त करता है। इन चारों गतियोंके परिभ्रमणरूप, चौरासी-लाख योनियोंको भी, आत्माही धारण करता है। इतना ही नहीं; अपितु द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव और भव रूप पंच परावर्तनभी आत्माके ही होते हैं।

सुख–दुख और भले-बुरेका ज्ञान (अनुभव) करने वाला आत्माही है। वैभाविक-शक्तिकी सर्वोच्चताको प्राप्त कर सातवें नरकके असहय-अपार कष्टोंको सहन करने वाला आत्माही है। इसी-प्रकार स्वाभाविक-शक्तिकी सर्वोत्कृष्टताको व्यक्त कर अवि-नाशी, निराकुल एवं शांति-सुखका भोक्ताभी आत्माही है।

अचेतन–जड़ (ज्ञानगुण-रहित) पदार्थोंसे आत्माकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि कारणके अनुरूपही कार्यकी उत्पत्ति होती है। जो कोई व्यक्ति; महुआ, गुड़ आदि मादक-पदार्थोंके संयोगसे, विशेष उन्मादक-शक्तिकी प्रकटता देखकर; पृथ्वी, जल, आदि तत्त्वोंके मेलसे, जो आत्म-तत्त्वकी उत्पत्ति होना मानते हैं, उन्हें इस बात पर गहराई से विचार कर निर्णय करना चाहिये कि जब जड़ तत्त्वों में आत्मा का लवलेश भी नहीं है, तो उनके मेल-

मिलानसे आत्मा कैसे उत्पन्न हो जायेगा ? अर्थात् इन जड़ तत्वों से कदापि आत्मा उत्पन्न नहीं हो सकता ।

यद्यपि हवा (वायु, पवन) आंखोंसे देखने में नहीं आती; परन्तु स्पर्शन-इन्द्रियके माध्यमसे उसका ज्ञान होता है, अतः हवाका अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध होता है । इसी-प्रकार बोले जाने वाले शब्द एवं तरह-तरह की आवाज, नेत्रोंसे दिखाई नहीं देती; परन्तु कर्ण-इन्द्रिय के माध्यमसे उसका अनुभव होता है, अतः बोले जाने वाले शब्दों और अनेक प्रकारकी आवाजका भी अस्तित्व सिद्ध होता है । ठीक इसी-प्रकार यद्यपि आत्मा (जीव) नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता; परन्तु जो जानने वाला है, समझने वाला है, स्वीकार करने वाला है तथा स्पर्शादि इन्द्रियोंके माध्यमसे; स्पर्श-रसादिका ज्ञान करने वाला कोई पदार्थ है, (शक्ति विशेष है) ऐसा अनुभव में आने से, आत्मा का अस्तित्वभी निर्विवाद स्वतन्त्र सिद्ध होता है । इसे हम शक्ति-विशेष भी कह सकते हैं ।

सिद्धांत-चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्य ने, जीवात्माके सम्बन्ध में, द्रव्यसंग्रह महाशास्त्र में इस-प्रकार उल्लेख किया है—

"तिक्काले चदुपाणा, इन्दियबल माउ आणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो, णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ।।"

अर्थात् जिसके; इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण पहिले भी थे, वर्तमान में भी हैं और भविष्यत् कालमें भी रहेंगे वही व्यवहारनय से जीव कहलाता है तथा जिसके ज्ञान-दर्शन रूप चेतना है, वह निश्चयनय से जीव कहलाता है ।

कविवर वृन्दावनने भी निम्न मत्तगयन्द छन्द में लगभग इसी अभिप्राय का उल्लेख किया है—

"जो जगमें निहच करिक, धरि चार प्रकारके प्राण प्रधानो ।
जीवतु है पुनि जीवत थो, अरु आगे हुवे वही जीवे निदानो ।।

सो वह जीव पदारथ है, चिन्मूरति आनन्द-कंद सयानो ।
ओघउ प्राण कहे वह तों, उपजै सब पुग्गलतें परमानो ।।"

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचन सार गाथा १७२ में, जो जीव का लक्षण बताया है उसका हिन्दी पद्यानुवाद कविवर वृन्दावनजीने ही, इस प्रकार 'मनहरण छन्द' में सूचित किया है—

"अहो भव्य-जीव ! तुम आतमाको ऐसो जानो,
जाके रस रूप गंध, फास नहिं पाइये ।
शब्द-परजायसों, रहित नित राजत है,
अलिंग ग्रहन, निराकार दरसाइये ।।
चेतना स्वभावही में, राजे तिहुंकाल सदा,
आनन्दको कंद, जगवंद्य वृन्द ध्याइये ।
भेद ज्ञान नैनतें, निहारिये जतनही सों,
ताके अनुभव-रस, ही में झर लाइये ।।"

जीवका लक्षण 'समयसार वैभवमें इस प्रकार पाया जाता हैं—
"अरस अरूप अगन्ध स्पर्श-बिन, चिद् विशिष्ट अव्यक्त महान् ।
शब्दहीन जिसका न लिंग है, अनुपम अनिर्दिष्ट संस्थान ।
जीव वही चेतन-अविनाशी, अन्तस्तत्व स्वस्थ अम्लान ।
सहजानन्द-स्वरूपो सम्यक्, दर्शन-ज्ञान-चरित्र-निधान ।।४६।।"

जीवात्माके विषयमें एक आचार्यश्री ने लिखा है—

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते ।।"

अर्थात् स्वयं आत्मा कर्म करने वाला-कर्ता है, स्वयंही कर्मके फलको भोगने वाला-भोक्ता है, स्वयंही संसारमें भ्रमरण करने वाला-संसारी है और स्वयंही कर्म से छुटकारा पाकर सिद्ध-स्वरूप भी आत्मा ही है ।

जीव-आत्माके ही सम्बन्धमें, छत्र कविरचित मदमोदन-पंचशतीमें, जो सवैया-छन्द हैं, वे भी ध्यान देने योग्य हैं—

"भूमि मांहि भूमिसों न, नीर मांहि नीरसों न,
वन्हि मांहि वन्हिसों न, तरु मांहि तरुसों ।
पौन मांहि पौनसों न लट मांहि लटसों न,
कीट मांहि कीटसों न, भौंरमें भंवरसों ।
पशु मांहि पशुसों न, नारक में नारकसों,
सुर मांहि सुरसों न नर मांहि नरसों ।
सपरस रससों न, सौरभ वरनसों न,
चेतनाको ईश आप, ऐसो नाहि परसों ।।३६।।"

अर्थात जीव जो है, वह चेतना का ईश (चेतन स्वरूप) है । वह भूमिमें, पानीमें, अग्निमें, वृक्षमें, हवामें, लटमें, भ्रमरमें, नारकमें, सुर (देवता) में, मनुष्यमें, स्पर्शमें, रसमें, सुगंधिमें और वर्ण (रंग) में होकर भी; इन भूमि, पानी आदि-स्वरूप नहीं है । इनसे भिन्न-अलग है ।

इसी प्रकार आगेभी सवैया छन्दमें बताया है कि—

"देह-परमाण सपरस-द्वार जानियत,
जाने आप-पर यातें ज्ञानी सरदहिये ।
धरे अहं बुद्धि यातें, वस्तुभूत सिद्ध होत,
जनमतें चूखें, यातें पराचीन कहिये ।।
इन्द्रिय अद्रष्टितें, अमूरतीक बेइयत,
व्यापी सरवांगतें, प्रदेशवंत कहिये ।
मृतक शरीर देखि, जुदायगी जानी परै,
ऐसे चिदानन्दके, विशेष गहि रहिये ।।

इस छन्दमें युक्ति-पूर्वक, चिदानन्द (जीव, आत्मा) को; क्रमशः देहप्रमाण, ज्ञानी, वस्तुभूत, प्राचीन, अमूर्तिक, प्रदेशवंत और सबसे

भिन्न सिद्ध किया है। इसी प्रकार जीवके ही विषयमें एक और सवैया है—

"जीव बिना पुण्य-पाप, फल सुख-दुख कौन,
भोगे कौन हरष,-विषाद को करत है ?
कौन जाय नर्क-स्वर्ग ? कौन नर अवतरै ?
पूरब-अपर काज, बोध को धरत है ?
कौन देय सीख कौन, सुने कौन मान करे ?
कौन शुभाशुभ-विधि, क्रिया आचरत है ?
कौन अहकार-ममकार, भय-भ्रम धरे ?
यों अनेक-भावमय, जीव विहरत है ।।४३।।"

यहां यह सिद्ध किया है कि जीवके सिवाय; पुण्य-पापका फल जो क्रमशः सुख और दुख है, उसका भोगने वाला और कोई नहीं हो सकता । इसी प्रकार; हर्ष-विषाद करने वाला, नर्क-स्वर्ग जाने वाला, नरका अवतार धारण करने वाला, भूत-भविष्यत् कार्योंका ज्ञान करने वाला, शिक्षा देने वाला, सुनने वाला, मान (आदर या घमंड) करने वाला, शुभ-अशुभ कर्मकी क्रिया का आचरण करने वाला, अहंकार-ममकार करने वाला तथा भय और भ्रमको धारण करने वाला, जीवके अलावा और कोई नहीं हो सकता है अर्थात् उपरोक्त ये सब कार्य जीवके ही हैं । इनसे जीव (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

जीवके विषयमें 'समयसार वैभव' के ५० वें छन्दमें जो भाव दिया है वह भी ध्यान देने योग्य है—

"रूप नहीं रस नहीं गन्ध नहिं, और नहीं है स्पश अशेष ।
नहिं नारक नर सुर पशुमय है, जितने शारीरिक-परिवेश ।
समचतुरस्र स्वाति कुब्जक या, अन्य नहीं कोई सस्थान ।
वज्रवृषभ-नाराचादिकभी, नहिं सहनन चैतन्य सुजान ।।

महर्षि कुन्दकुन्दने, समयसार-नामक महान्‌शास्त्रमें 'आत्मा' का स्वतन्त्र-अस्तित्व सिद्ध करते हुए उल्लेख किया है कि—

"कह सो घिप्पइ अप्पा ? पण्णाए सोउ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो, तह पण्णा एव घेत्तव्वो ।।२९६।।"

अर्थात् वह आत्मा कैसे ग्रहण किया (समझा) जाता है ? मानों शिष्यके ऐसा प्रश्न करने पर महर्षि उत्तर देते हैं, कि हे शिष्य ! वह आत्मा; प्रज्ञा (बुद्धि, विवेक, ज्ञान) से ग्रहण कियां जाता है । जिस-प्रकार प्रज्ञासे उसे विभक्त-अलग किया जाता है कि शरीरमें कोई न कोई शक्ति-सामर्थ्य विशेष है, जो जानने-समझनेका कार्य करती है । अतः शरीर अलग है और वह आत्मा, अन्यत्र कर्मानुसार जाकर पुनर्जन्म धारण कर लेता है । इस प्रकार आत्माका अलग-स्वतन्त्र रूपमें ज्ञान होता है और इस-प्रकार प्रज्ञासे उसे ग्रहण किया जाता है ।

पंचाध्यायीके रचयिता आचार्यश्री ने भी उल्लेख किया है कि-

"अहं प्रत्यय-वेद्यत्वात् जीवस्याऽस्तित्वमन्वयात्"

अर्थात् प्रत्येक जीव-आत्मामें, जो 'अहम्' प्रत्यय 'मैं,मैं' पनेकी अनुभूति है, वही आत्माके स्वतन्त्र-अस्तित्वको प्रकट करती है । उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते; हर हालतमें 'अहं' प्रत्यय 'मैं, मैं' पनेका अनुभव हुआ करता है। इसी-कारण सुषुप्त दशामें, अनेकों निद्रालु व्यक्तियों के समूहमें से, किसी व्यक्ति-विशेषका नाम सम्बोधन करनेपर, वही व्यक्ति उठता है, क्योंकि शरीरमें विद्यमान शक्ति-विशेषमें, इस बातका ज्ञान है कि मेरा अमुक नाम है । वह शक्ति-विशेष ही आत्मा (जीव) है ।

पश्चिमी-विद्वान् डीकार्टे कहता है कि-'आई थिंक, दियर फोर आई एम' अर्थात् मैं सोचता-विचारता हूँ, अतः मैं-आत्मा हूँ । मेरी शरीरसे भिन्न स्वतन्त्र-सत्ता है । प्रोफेसर मैक्समूलर 'आत्मा' को, ठीक इसके विपरीत-शब्दों द्वारा समर्थित करते हैं कि-'आई एम,

दियर फोर आई थिंक' अर्थात् मैं–शक्तिविशेष–आत्मा हूँ, इसी कारण मैं विचार करता हूँ। आत्माको प्रत्येक-अवस्थामें, उसका ज्ञानगुण उसी प्रकार विद्यमान रहता है, जिस–प्रकार अग्निकी प्रत्येक दशामें, उष्णता रहती है।

परमानन्द–स्तोत्रके रचयिता आचार्यश्रीने, आत्माके सम्बन्ध में जो युक्ति–पूर्वक उल्लेख किया है, वहभी ध्यान देने योग्य हैं—

"पाषाणेषु यथा हेम, दुग्ध–मध्ये यथा घृतम्।
तिल–मध्ये यथा तैलं, देह–मध्ये तथा शिवः॥
काष्ठ–मध्ये यथा वह्निः, शक्ति–रूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति सः पंडितः॥
नलिनाच्च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
सोऽयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः॥"

अर्थात् जिस प्रकार खानिसे निकले हुए सुवर्ण–पाषाणमें; सुवर्ण, दूधमें घृत, तिलमें तैल विद्यमान है उसी प्रकार शरीरमें शिव (आत्मा, जीव)का अस्तित्व है। काष्ठमें जिस तरह शक्तिरूप से अग्नि रहती है, उसी तरह प्रत्येक–शरीरमें, आत्माकी अलग–अलग सत्ता है और ऐसा जो जानता व मानता है वही पंडित (विवेकी) है। इसी प्रकार जैसे कमलसे जल सर्वदा भिन्न रहता है, उसी प्रकार यह आत्मा स्वभावसे ही निर्मल रहता हुआ शरीरमें रहकर भी, शरीरसे भिन्न रहता है।

आत्माके विषयमें कविवर पंडित बनारसीदास ने जो नाटक समयसारमें लिखा है, वहभी गहराई से मनन करने योग्य है—

"जो जगकी करनी सब ठानत, जो जग जानत जोवत जोई।
देहप्रमाण पै देहसों दूसरो, देह अचेतन चेतन सोई॥
देहधरे प्रभु देहसों भिन्न, रहे परछन्न लखै नहिं कोई।
लक्षण वेदि विचक्षण बूझत, अच्छनसों परतच्छ न होई॥"

अर्थात् जो संसारकी सब–क्रियायें (चतुर्गति भ्रमण, राग-द्वेषादि भाव) करता है, जो संसारको जानने देखने वाला है, जो देह (शरीर) के बराबर रहता है, फिरभी शरीरसे अलग है, क्योंकि शरीर तो जड़ (अचेतन) है और वह चेतन–चेतना लक्षण वाला है। वह प्रभु–आत्मा शरीरको धारण किये हुए है, फिरभी देहसे अत्यन्त-अलग है। वह छिपा हुआ [इन्द्रियों के अगम्य] रहता है, उसे कोईभी देख नहीं सकता। फिरभी ज्ञानी व्यक्ति उसे, लक्षण–स्वरूपसे समझते हैं। वह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता।

एक कविने भी लिखा है कि—

"तीन लोकमें श्रेष्ठ है, आत्म-तत्त्वका ज्ञान।
भिन्न सर्वथा देहसे, तिलमें तल–समान॥"

अर्थात् जिस प्रकार तिलमें तैल सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार देहसे भी आत्मा सर्वथा भिन्न है और इस-प्रकारसे आत्म तत्त्वका ज्ञानही तीनलोकमें श्रेष्ठ है।

आत्माके विषय में, प्रमेयरत्नमालामें जो उल्लेख है, वहभी चिन्तनीय है। आचार्यश्री लिखते हैं—

"तदर्हज–स्तनेहातो, रक्षो द्रष्टेर्भव-स्मृतेः।
भूताऽनन्वयनात् सिद्धः, प्रकृतिज्ञः सनातनः॥"

अर्थात् तत्काल उत्पन्न हुए शिशुमें, पूर्व जन्ममें प्राप्त हुए संस्कार–अभ्यासके कारण, माताके दुग्ध पानकी इच्छा तथा चेष्टा देखनेमें आती है। मृत्युके पश्चात्, व्यन्तरादिके रूपमें, कभी-कभी आत्माके पुनर्जन्मकी जानकारी होती है, किसी–किसीको पूर्व जन्मका स्मरण होता है तथा अचेतन [जड़] तत्वका आत्माके साथ, अन्वय सम्बन्धभी नहीं पाया जाता, अतः अविनाशी–आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही।

आत्माके विषयमें जो 'सुश्रुत शरीर–५।६३' पर उल्लेख है वह भी प्रसंगवश ध्यान देने योग्य है—

"न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं, देहे सूक्ष्मतमो विभुः ।
दृश्यते ज्ञान चक्षुभिस्तपश्चक्षुभिरेव च ।।"

अर्थात् शरीरमें जो अतिसूक्ष्म आत्मा है वह चक्षु से नहीं देखा जा सकता । हां वह; ज्ञान चक्षुओं और तपश्चरण रूपी चक्षुओं से देखा जाता है ।

जीवात्माके विषयमें, गीता अध्याय दो श्लोक संख्या २३ इस प्रकार है—

"नैनं छिन्दंति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ।।"

अर्थात् इस आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व तो है ही; साथ ही इसको शस्त्र छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और हवाभी इसे सोख नहीं सकती ।

इस विषयमें लेखक द्वारा लिखित भजनकी, कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"शस्त्रसे काटे कभी कटता नहीं,
तीरसे छेदे कभी छिदता नहीं ।

अग्नि से जलता नहीं मैं आतमा,
आतमा हूं आतमा हूँ आतमा ।।"

आगेकी दो पंक्तियांभी ध्यान देने योग्य हैं—

"सूखता वायुसे सोखे मैं नहीं,
जल गलाये तो भी मैं गलता नहीं ।

हूं त्रिकाली-शुद्ध शाश्वत् आतमा,
आतमा हूं आतमा हूं आतमा ।।"

एक महर्षिने भी उल्लेख किया है—

"नैव स्त्री न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः ।
यद् यद् शरीरमादत्ते, तेन तेन स युज्यते ।।"

अर्थात् कोई भी जीवात्मा; स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं है। हां कर्म योगसे जो भी शरीर प्राप्त करता है, वैसा-वह लोक में, व्यवहार द्रष्टिसे कहा जाता है।

ख्याति-प्राप्त बाल ब्रह्मचारी आचार्यश्रीविद्यासागरजी महाराजने, 'कुन्द कुन्दका कुन्दन' नामक पुस्तिकामें, आत्माके विषयमें कितना मार्मिक वसन्ततिलका छन्द लिखा है—

"वर्णादि संग रहता फिर भी निराला,
आत्मा सुशोभित रहा, उपयोग वाला।
लो क्षीरमें वह भले मिल जाय नीर,
पै नीर-नीर रहता, बस क्षीर-क्षीर ॥"

न्यायसूत्रके रचनाकार इस विषयको इस प्रकार समझाते हैं-
"वीतराग-जन्मऽदर्शनात्"— (न्यायसूत्र ३/१/२५)

अर्थात् यदि जन्म-धारण करनेके पहले, आत्माका अस्तित्व नहीं होता, तो वीतराग-भाव वाले शिशुका जन्म होना चाहिये। लेकिन अनुभवसे मालूम होता है, कि शिशु पूर्व जन्ममें अनुभव की गई वासना-संस्कार-परम्पराको लेकर जन्म धारण करता है।

परमात्म-प्रकाश महाशास्त्रमें, आत्माके विषयमें जो लिखा है वह भी ज्ञातव्य है—

"जो णिय-करणहिं पंचहिं वि, पंच वि विसय मुणेइ।
मुणिउ ण पंचहिं-पंचहिं वि, सो परमप्पु हवेइ ॥"
-अध्याय एक श्लो० ४५

अर्थात् जो अपनी पांचों-इन्द्रियोंसे, इन पांचोंही इन्द्रियोंके विषयको जानता है, लेकिन वह अपनी पांचों-इन्द्रियों और इनके पांचों-विषयोंसे नहीं जाना जाता, ऐसा महान् वह आत्मा (परमात्मा) है।

और भी उसी महाशास्त्रमें श्रीयोगीन्द्रदेवने उल्लेख किया है-
"देहु जि अप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढु हवेइ"

अर्थात् जो देह (शरीर) को ही आत्मा समझता है, वह व्यक्ति मूर्ख-अज्ञानी है। उनके लिखनेका अभिप्राय यह है कि शरीर अलग है और आत्माभी अलग है। और भी समझाया है—

"आत्मा जनितः केनापि, आत्मा जनितं न किमपि"

अर्थात् न तो यह आत्मा किसी वस्तुसे उत्पन्न हुआ है और न इस आत्माके द्वारा कोई या कुछ भी उत्पन्न हुआ अथवा होता है। यह तो स्वयंही स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है।

अष्ट-सहस्त्रीके रचयिता आचार्यश्री विद्यानंदिने, आत्माके स्वतन्त्र-अस्तित्वके विषयमें जो उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यह है कि इस संसारमें जो आत्मा (जीव) शब्दका प्रयोग होता है, 'आत्मा, आत्मा या जाव, जीव ऐसा कहने व सुननेमें आता है' वह आत्मा नामक कोई भी अचित्य-शक्तिको छोड़कर, शरीरके विषयमें प्रसिद्ध नहीं हैं। क्योंकि शरीरतो अचेतन-जड़ है तथा वह आत्मा उस शरीरके भोगका आश्रयरूप से प्रसिद्ध है। अर्थात् आत्मा; भोक्ता-भोगने वाला है।

स्पर्शनादि इन्द्रियोंके लिये भी 'आत्मा' शब्द का व्यवहार नहीं होता है क्योंकि 'इन्द्रियां उपभोगके साधनरूपसे प्रसिद्ध हैं। जैसे–हम कहते हैं, "मैं नासिकासे सूँघता हूँ" "मैं आँखोंसे देखता हूँ" यहाँ इन दोनों वाक्योंमें, क्रमशः सूँघने और देखनेरूप क्रियाका साधन; नासिका तथा चक्षु–इन्द्रिय है। सूंघने वाली अथवा देखने वालीशक्ति, आत्माके रूपमें अलगही है। स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके विषयों (ठंडा-गरम, खट्टा-मीठा आदि) में भी 'आत्मा' इस शब्दका प्रयोग नहीं होता, क्योंकि वे भोग्यरूपमें प्रसिद्ध हैं। जैसे ठंडे पानीमें हाथ डाल-कर कहते हैं कि पानी ठंडा है। यहाँ पानीके ठंडे गुणका ज्ञान करने वाली शक्ति अलग है और वही आत्मा है पानी या पानी का ठंडा

गुण 'आत्मा' नहीं है। इनको जानने वालाही आत्मा है।

मोक्ष-पाहुड गाथा १०३ में, देहस्थ-आत्माके विषयमें जो भाव दर्शाया है, उसे निम्न पद्यके रूपमें चिन्तन करना चाहिये—

"जो वंदकोंसे वंद्य निरंतर, ध्यान योग्य ध्यानीसे।

स्तुत्य स्तुतिकरोंसे भी वह, देहस्थ आत्मा जानो ।।"

अर्थात् जो वंदना करने वालोंसे निरंतर वंदनीयहै, ध्यान करने योग्य है तथा स्तुति-गुणगान करने वालोंसे स्तुति करने योग्य है, वह शरीरस्थ आत्मा ही है।

गीता अध्याय दो, श्लोक १३ और २२ में, जीवके पुनर्जन्मकी सिद्धि इस प्रकार है—

"देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तर-प्राप्तिः, धीरस्तत्र न मुह्यते ।।"

अर्थात् जिस प्रकार इस शरीरमें रहने वाले शरीरी जीवात्माके; बालकपन, जवानी और बुढ़ापा होता है, उसी प्रकार देहान्तरकी प्राप्ति-पुनर्जन्मभी होता है। हाँ जो धैर्यवान आत्मा है, वह इन अवस्थाओंके होने पर मोहको प्राप्त नहीं होता है।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।"

अर्थात जिस प्रकार मनुष्य पुराने-वस्त्रोंको छोड़कर, नवीन दूसरे वस्त्रोंको धारण करता है, उसी प्रकार देही-जीवात्मा, जीर्ण-शरीरको छोड़कर, अन्य नवीन शरीरको धारण करने हेतु गमन करता रहता है अर्थात् पुनर्जन्म धारण करता है।

इस प्रकार उक्त गीताजीके दोनों श्लोकोंसे पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

योगसार गाथा पचपनमें भी उल्लेख है—

"शास्त्रं पठन्तः तेऽपि जडाः, आत्मानं ये न जानंति"

अर्थात् मानव होकर जो शास्त्र तो पढ़ लेते हैं, किन्तु आत्मा (स्वयं) को नहीं जानते कि मैं ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला आत्मा हूँ, वे जड़-अज्ञानी ही हैं।

आत्मा-जीवको समझनेके लिये, लेखक द्वारा लिखित निम्न ५ दोहे भी पठनीय एवं चिन्तनीय हैं—

"जो जाने वह जीव है, जो देखे वह जीव।
जो माने वह जीव है, जो समझे वह जीव ।।
जाने केवल जीवही, देखे केवल जीव।
माने केवल जीवही, समझे केवल जीव ।।
मैं वह तुम सब जीव हैं, कहने वाला जीव।
सुनने वाला जीव है, निज-पर ज्ञायक जीव ।।
जीव कहो या आतमा, चित् चेतना विशुद्ध।
चेतन अरू चैतन्यभी, ब्रह्म हंस मैं बुद्ध ।।"

और इसी कारण-वश—

"भेदद्रष्टिको गौण कर, जो अभेदमें लीन।
रमते जीव स्वभावमें, वे ही पूर्ण-प्रवीण ।।"

ब्रह्म-आत्मके विषयमें एक कविने जो रहस्योद्घाटन किया है, वहभी ध्यान देने योग्य है। इसे हमारे गुरुदेव आचार्य श्रीमहावीर-कीर्ति महाराज बहुत सुनाया करते थे—

"परख सकती नहीं रत्नोंको, हर इन्सानकी आँखें।
दिखाई ब्रह्म क्या देवे, जो न हो ज्ञानकी आँखें ।।"

अर्थात् जिस तरह, हर इन्सानकी आंखें रत्नोंको नहीं परख—सकती–सही जानकारी नहीं कर सकती; उसी तरह ज्ञानकी आँखोंके बिना, ब्रह्म-आत्मा दिखाई नहीं देता, समझमें नहीं आता। हाँ ज्ञान–

विवेकसे वह, अवश्य समझमें आता है।

एक-व्यक्ति प्रसन्नमुख है, तो एक उदासीन। इसी प्रकार एक गा रहा है, तो एक रो रहा है। इस तरह प्रत्येक शरीरमें प्रत्येक दशाका ज्ञान या अनुभव करने वाला, अलग-अलग अस्तित्व-धारी आत्मा ही है, तथा वह आत्मा 'अणाइणिहणो य' ऐसा जो श्रीकुन्द-कुन्दाचार्य ने भाव-पाहुड गाथा १४८ में लिखा है, इसके अनुसार अनादिकालसे है और अनंतकाल-तक रहेगा।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने ही मोक्षपाहुड गाथा ६५ के प्रारम्भमें 'दुक्खेण-णज्जइ अप्पा' (दुःखेन ज्ञायते आत्मा) लिखकर यह बतलाया है कि वह आत्मा; दुःखसे-महान् पुरुषार्थ एवं महान् पुण्योदयसे जाना जाता है।

भावपाहुड गाथा ६४में आत्माका सजीव-चित्रण किया है, जो कि इस प्रकार है—

"अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणा-गुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिदिट्ठ संठाणं।।"

इसका सरल हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार पठनीय है—

"जीवका नहिं रंग कोई, स्पर्श-रस अरु गंध ना।
संस्थान-शून्य इन्द्री अगोचर, संहनन कायाभी ना।।"
राग-द्वेषरु मोह-माया, जीवके कुछ भी नहीं।
नहिं कर्म अरु नोकर्म इसके, आस्रव इसके नहीं।।"

धवला टीका पुस्तक तीन पृष्ठ दो और द्रव्य संग्रह गाथा सातमें भी उपरोक्त कथनकी पुष्टि हुई है।

श्रीअमृतचन्द्रसूरि रचित समयसार कलशके हिन्दी-पद्यानुवादक कविवर बनारसीदासने भी नाटक-समयसारमें लिखा है—

"मोक्ष-स्वरूपी आतमा, ज्ञानगम्य निरधार"

अर्थात् आत्मा; मोक्ष-मुक्त स्वभाव वाला है यानी सब पर-द्रव्य और उनके भावोंसे अत्यन्त भिन्न है। तथा ऐसा आत्मा; ज्ञान-विवेक-बुद्धिसे समझमें आता हैं।

हाँ तो प्रत्येक-आत्मा; अनादि कालसे है और अनंत काल तक रहेगा तथा ऐसा परमात्म-प्रकाश महाशास्त्रोंमें भी आया है—

"गउ संसारि वसंताहं, सामिय कालु अणंतु"

इसका संस्कृत-अनुवाद इस प्रकार है—

"गतःसंसारे वसतां स्वामिन् ! कालः अनंतः"

अर्थात् प्रभाकरभट्ट-शिष्य, अपने गुरु श्रीयोगन्द्रिदेवसे निवेदन कर रहा है कि हे स्वामी ! हे गुरुदेव मुझ आत्माको इस संसारमें परिभ्रमण करते हुये अनंतकाल हो गया है।

योगसार गाथा चारमें भी इन्हीं आचार्यश्रीने उपरोक्त कथन की पुष्टि की है—

"काल अणाइ अणाइ जिउ, भव-सायरु जि अणंतु"

अर्थात् काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भव सागरभी अनादि है। इतना नहीं अपितु ये तीनों, अनादिके साथ-साथ अनंत-भी हैं। इनका न आदि है और न अंत। ये हमेशासे हैं तथा अनंत-काल तक रहेंगे। इस प्रकार आत्मा अनादि अनंत सिद्ध होता है।

श्रीपद्मनंदि-सूरि रचित एकत्व-सप्ततिके निम्न श्लोकभी आत्माके सम्बन्धमें ध्यान देने योग्य हैं—

"तदेकं परमं ज्ञानं, तदेकं शुचि-दर्शनं।
चारित्रं च तदेकं स्यात्, तदेवैकं च मंगलं॥
नमस्यं च तदेवैकं, तदेकं निर्मलं तपः।
उत्तमं च तदेवैकं, तदेव शरणं सतां॥
आचारश्च तदेवैकं, तदेवावश्यक-क्रिया।

स्वाध्यायस्तु तदेवैकं, अप्रमत्तस्य योगिनः ॥"

अर्थात् सातवें गुणस्थान वाले अप्रमत्त योगी के; वह आत्मा ही अद्वितीय परम-ज्ञान है, अद्वितीय पवित्र-दर्शन है, अद्वितीय चारित्र है और अद्वितीय मंगल है। नमस्कार करने योग्यभी वह आत्मा ही है, निर्मल-तपभी वह आत्मा ही है, उत्तम और शरणभी वह आत्मा ही है। इतना नही; अपितु आचार-आचरण भी वह आत्माही, है, आवश्यक-क्रियाभी वह आत्माही है और अद्वितोय स्वाध्यायभी वह आत्माही है।

एक आचार्यश्रीने उल्लेख किया है—

"यतो न किंचित् ततो न किंचित्, यतो यतो यामि ततो न किंचित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किंचित्, स्वात्माऽवबोधादधिकं न किंचित्॥"

अर्थात् न यहाँ कुछ है और न वहाँ कुछ है। जहाँ-जहाँभी मैं जाता हुँ-अन्वेषण करता हुँ, वहाँ भी कुछ नही है। विचार करके देखता-सोचता-विचारता हुँ तो यह संसारभी कुछ नही-सारभूत नहीं है। वास्तवमे आत्माके अनुभवसे बढ़कर अन्य कुछ है ही नही। सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह पृष्ठ ४३० परभी आया है—

"आत्मज्ञानं भवेद्येषां, त एवं ज्ञानिनो मताः।
त एव जन्म-सिन्धोश्च, पारं यांति न चेतरे॥"

अर्थात् जिन-व्यक्तियोंके आत्माका ज्ञान है, वेही ज्ञानी कहलानेके अधिकारी है और ऐसे ज्ञानीही जन्म-मरणरूपी संसार-सागरसे पार होते हैं। सदैवके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा पा जाते हैं। इसीलिये एक कविने लिखा है—

"आतमको जाने बिना, जप-तप सबहि निरत्थ।
कण-बिन तुष जिमि फटकते, कछु न आवे हत्थ॥"

इसी प्रकार एक अन्य-कविने लिखा है—

चारों वेद पुराण अठारह, षट् दर्शन पढ़ लीनाहै,
पंडित शास्त्री न्यायतीर्थ, उपदेशक बने प्रवीना है।
किये बहुत उपवास कठिन तप, करि-करि कृश तन कीना है,
किंतु निजातमको जाने बिन, अंधेकी ज्यों सीना है ॥"
इसी प्रकार एक और कविने भी लिखा है—

"आप अनुभवे बिना, कुछ नाहिं सिद्धि होत,
कोटिक-कलेशनिकी करी बहु करनीं।"

अर्थात् इस जीवने करोड़ों क्लेश वाली अनेकों करनी करी है, परन्तु अपने आत्माके अनुभव किये बिना कुछभी सिद्धि नहीं की।

इस सम्बन्धमें निम्न सवैया छन्दभी स्मरणीय है—
"ऊँच भयो अरु नीच भयो, बहु बारहि रंक नरेश भयो है,
जो जग जोनि बनी जगमें, सब योननिमें अवतार लियो है।
नरकनकी बहु त्रास सही, कबहुँ करनी कर स्वर्ग गयो है,
पर आतम-ब्रह्म बिना समझे, सब खाकमें जन्म बिताय दियो है॥

अर्थात् इस जीवात्माने; अनेक बार ऊँच कुलमें जन्म लिया, अनेक बार नीच कुल में जन्म लिया, अनेक बार दीन-दरिद्र तथा राजा-महाराजा हुआ। संसार में जितनीभी जन्मकी योनियाँ-उत्पत्तिस्थान हैं वहाँ पर भी इसने जन्म धारण किया है। इतना ही नहीं अपितु नरकोंमें जन्म लेकर वहाँके अनेक कष्ट भोगे तथा कभी-कभी स्वर्गोंमें भी जन्म लिया। परन्तु स्वयं आत्मा रूप परमब्रह्म-परमात्मा को समझे बिना, सब जन्म निरर्थक ही बिताये। अतः आत्माको समझनेसे ही जन्म धारण करने की सफलता है।
कविवर पं. दौलतरामने भी लिखा है कि

"लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद फंद, निज-आतम ध्याओ॥"

चेतन-आत्माको सम्बोधित करते हुये कविवर बनारसीदासजी ने कितना हृदय-स्पर्शी छन्द लिखा है—

"चेतनजी ! तुम जागि विलोकहु, लागि रहे कहा मायाके ताईं ।
आये कहाँसे कहाँ तुम जाउगे, माया रहेगी जहाँकी तहाँ हीं ।।
माया तुम्हारी न जाति न पाँति न, वंशकी बेलि न अंशकी झाँईं ।
दासी किये बिन लातनि मारत, ऐसी अनीति न कीजे गुसाईं ।।"

अर्थात् हे आत्मन् ! तुम मोह-निद्राको छोड़कर सावधान होओ । तुम धन-संपत्तिरूप मायामें क्यों उलझे हुये हो, तुम कहाँसे आये हो और कहाँ जाओगे ? इस पर तनिक विचार करो । यह सँपदा जहाँकी तहाँ ही पड़ी रहेगी । यह संपदा न तो तुम्हारी जातिकी है और न पाँतिकी ही है । वंश परम्पराकी भी यह नहीं है । इतना ही नहीं, अपितु यह संपदा तुम्हारे अंश-शरीरकी परछाई भी नहीं है । हे आत्मन् ! यदि तुमने इसे दासी-नौकरानी बनाकर नहीं रक्खा, तो यह तुम्हें ठुकरायेगी । अतः इस मायामें लगे रहने रूपी अनीतिको तत्काल छोड़ो ।

आगे कविवरने नवमें छन्दमें भी आत्मा को सम्बोधित किया है—

"लोकनिसों कछु नातो न तेरो, न तोसों कछु इह लोकको नातो ।
ये तो रमि रहै स्वारथके रस, तू परमारथके रस मातो ।।
ये तनसों तन्मय तनसों जड़, चेतन ! तू तिनसों नित हाँतो ।
होहु सुखी अपनो बल फेरिकै, तोरिकै राग-विरोधको तांतो ।।"

अर्थात् हे आतम ! कुटुम्बी आदि जनोंसे तुम्हारा कुछभी सम्बन्ध नहीं है और तुम्हारे सेभी कुटुम्बीजनोंका कोईभी सम्बन्ध नहीं है । वे अपने स्वार्थके वशीभूत होकर तुम्हारे शरीरसे स्नेह करते हैं । तुमतो अपने आत्म-स्वभावमें लीन रहने वाले हो । वे लोग शरीरमें ही तन्मय होकर-शरीर को सर्वस्व समझकर बहिरात्मा हो रहे हैं और इसी कारण शरीरके समान जड़बुद्धि हैं । तुमतो चैतन्य-स्वरूप हो, कुटुम्बी जनों से सर्वथा-भिन्न हो । अतः हे आत्मन् ! राग-द्वेष

रूपी धागा तोड़कर अपना आत्म-बल प्रकट करो और इस प्रकार सदा-सदाके लिये सुखी हो जाओ ।

परमध्यानका लक्षण बताते हुये, द्रव्यसंग्रहमें, आत्माका कर्तव्य प्रकट किया है, वहभी प्रसंगवश स्मरणीय है–

"मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किं वि जेण होई थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ।।"

इसका सरल व सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है—
"करो न चेष्टा, बोलोभी मत, सोचोभी मत हे आतम !
हो जाओ तल्लीन स्वयंमें, फिरतो तुमही परमातम ।।"
इसी प्रकार संसारी-जीवात्माको चेतावनी देते हुये एक जैन कविने लिखा है–

"तूही वीतराग-देव, राग-द्वेष टारि देख,
तूही तो कहावे सिद्ध, अष्टकर्म नाशतें ।
तूही आचारज है, आचरे जो पंचाचार,
तूही उवझाय, जिनवाणीके प्रकाशतें ।।
परको ममत्व त्याग, तूही है सो ऋषिराज,
श्रावक-तुनीत व्रत एकादश भासतें ।
सम्यक् स्वभाव तेरो, शास्त्र तेरी पुण्य-वाणी,
तूही भैया ज्ञानी निजरूपमें निवासतें ।।"

अर्थात् हे संसारी जीवात्मा ! तू स्वयं अपने राग-द्वेषको दूर करके देखे तो, तूही वीतराग-देव है । अष्टकर्मोंके विनाशसे तूही सिद्ध कहाता है । पंचाचार का आचरण करनेसे तूही आचार्य है । जिन-वाणीके विशेष-ज्ञानसे तूही सिद्ध कहाता है । पंचाचार का आचरण करनेसे तूही आचार्य है । ग्यारह प्रतिमाके व्रतों का पालन करनेसे, तूही क्षुल्लक-ऐलक रूप उत्कृष्ट श्रावक है । तेरे सम्बन्धमें शास्त्रके

बचनामृत ऐसे हैं कि तूही सम्यक् स्वभाव वाला है और हे भैया ! स्वरूपमें निवास करनेसे तूही ज्ञानी है । अतः इन सर्व बातों को गह-राईसे सोच समझ ।

संसारी आत्माभी ब्रह्म अर्थात् परमात्मा कहलाता है । सो ही युक्ति-पूर्वक बनारसीदासजी ने नाटक समयसारमें लिखा है—

"ज्यों कलधौत सुनारकी संगति, भूषण नाम कहे सब कोई ।
कंचनता न मिटी तिहि हेतु, वहै फिरि औटिकैं कंचन होई ।।
त्यों यह जीव अजीव संयोग, भयो बहुरूप भयो नहिं दोई ।
चेतनता गई कबहूँ, तिहि-कारण ब्रह्म कहावत सोई ।।"

अन्तमें लेखक द्वारा लिखित दो दोहे भी इस प्रसंगमें सदैव स्मरण करने योग्य हैं । वे हैं—

"स्वातम-भूल संसार है, अतः स्वातमको जान ।
स्वातमको तुम जानकर, पाओ मुक्ति-महान् ।।
सत्गुरुके सत्संगसे, पहिचानोगे स्वातम ।
सत्पथ मिले सुहावना, स्वातम होय परमात्म ।।"

अर्थात् हे संसारी प्राणी ! अपने आत्माको भूलना ही, संसार दुख का कारण है, इसलिये तुम अपने आत्माको जानो । स्वातमको जाननेसे तुम महान् मोक्षको प्राप्त करलोगे । हाँ, स्वात्माको पहि-चाननेके लिये सत्गुरुकी संगति आवश्यक है । इसीसे सन्मार्गकी प्राप्ति होकर अपना आत्मा परमात्मा होगा ।

इत्यलम्

दो प्रकार की संगति

सुसंगति हम सब करें, पाया मानव जन्म ।
कुसंगति हम ना करें, सफल होय नर-जन्म ।।१।।

सत्संग करना चाहिए, कहते हैं सब—धर्म ।
कुसंग तजना चाहिए, यही धर्म का मर्म ।।२।।

सज्जन साधु सन्त का, संग करना सत्संग ।
दुर्जन-दुश्चरित्र का, करना संग कुसंग ।।३।।

गहराई से समझलें, क्या सत्संग कुसंग ।
फिर कुसंग तजके करें, सन्त साधु का संग ।।४।।

लोकमें भी सूक्ति है "भले-पुरुषों को संगति करनी चाहिये तथा दुर्जनों की संगति से दूर रहना चाहिये ।

संग, संगत, संयोग, समागम, मेल और मिलान इत्यदि शब्द, संगति के पर्यायवाची रूप में प्रयोग होते हैं । इन प्रत्येक शब्द के प्रारम्भ में 'सु' और 'कु' जोड़ देने से, ये ही शब्द, सुसंगति और कुसंगति के पर्यायवाची हो जाते हैं । जैसे सुसंग-कुसंग, सुसंगत-कुसंगत, सुसंयोग आदि ।

संग, संगत आदि उक्त शब्दोंके प्रारम्भमें, सत् शब्द जोड देनेसेभी सत्संगतिके पर्यायवाची शब्द हो जाते हैं । जैसे—सत्संग, सत्संगत, सत्संयोग, सत्समागम आदि ।

संगतिके विषयमें ऋषि—महर्षि, मुनि—महात्मा और साधु-सन्तों ने जो उल्लेख किया है वह ध्यान देने योग्य है—

"साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलति तीर्थः, सद्यः साधु—समागमः ।।"

अर्थात् साधुजन-सत्पुरुषोंके दर्शन करना पुण्यका कारण है तथा साधुजन तीर्थ—स्वरूप (जिनका निमित्त पाकर संसार-सागरसे

तिरा जाये ऐसे) हैं। तीर्थ क्षेत्रतो समय पाकर फलीभूत होते हैं लेकिन साधु-पुरुषों का समागम शीघ्रही फलदायक होता है। अन्यत्र भी लिखा है—

"चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमा।
चन्द्र-चन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधु-संगतिः॥"

अर्थात् इस संसारमें चन्दन, शीतलता प्रदान करने वाला है तथा चन्दनसे भी अधिक शीतलता प्रदान करने वाला, चन्द्रमा (चन्द्रमा की चांदनी) है। परन्तु इन दोनोंसे भी अधिक शीतलता-शांति-निराकुलता प्राप्त कराने वाली, साधुओंकी संगति है। इस सम्बन्धमें निम्न दोहे ध्यान देने योग्य हैं—

"संगति कीजे साधु की, हरे औरको व्याधि।
ओछी संगति नीच की, आठों पहर उपाधि॥१॥

सन्त-समागम प्रभु-भजन, जगमें दुर्लभ दोय।
सुत-दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय॥२॥

"सत्संगसे ही प्राप्त हो, आत्मिक-सुक्ख अनंत।
आकुलता से रहित जो, निजाधीन है सन्त॥"

इसी प्रकार एक जगह पढ़ने में आया था—

"दुष्ट-संग मत देहु विधाता, यातें भलो नरक को वासा"

इसमें साधु-संगतिको छोड़कर, दुष्टकी संगतिको, नरक-निवाससे भी बुरा बताया है। देखिये! पारसमणिकी संगतिसे (स्पर्शसे) लोहाभी सोना हो जाता है। इसी प्रकार साधु-पुरुषकी संगतिसे सभी-अवगुण दूर (नष्ट) हो जाते हैं।

प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका में आया है--

'विद्युत्विलसित चपलं किं? दुर्जन-संगतं युवतयश्च'

अर्थात् बिजलीकी चमकके समान चपल-चंचल (नाशवान) क्या है? तो उत्तरमें बताया हैकि 'दुर्जनकी संगति और युव-

तियां ।' अतः इनका संगति नहीं करनी चाहिये । इनसे दूर रहना चाहिए ।

संगतिके सम्बन्धमें निम्न श्लोकभी मनन करने योग्य हैं—

"पद्मिनी राजहंसाश्च, निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः ।
यत्र देशे प्रसर्पन्ति, तत्र देशे, शुभं भवेत् ।।"

अर्थात् पद्मिनी-जातिकी स्त्रियां, राजहंस-पक्षी, निर्ग्रन्थ-तपोधन (साधु) ये तीनों, जिस देशमें विहार करते हैं, उस देशमें सर्व-प्रकारका शांतिसुख, आनन्द-मंगल रहता है ।

"त्यज दुर्जन-संसर्गं, भज साधु-समागमं ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यमनित्यतां ।।"

अर्थात् दुर्जनकी संगतिको छोड़ना चाहिये और साधुकी संगति करना चाहिए । इसी प्रकार दिनरात पुण्य-कार्य करना चाहिये तथा सदैव अनित्यताका स्मरण करना चाहिये ।

"वरं पर्वत-दुर्गेषु, भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्ख-जन-सम्पर्कः, सुरेन्द्र-भवनेष्वपि ।।"

अर्थात् वनचरोंके साथ पर्वतोंकी कंदराओंमें भ्रमण करना तो श्रेष्ठ है, किन्तु स्वर्ग-लोकमें भी मूर्ख जनका सम्पर्क अच्छा नहीं ।

—भर्तृहरि नीतिशतकश्लो० १४.

"लोके दुर्जन-संसर्गाद्, मानहानिः पदे पदे ।
पावको लोह-संगेन, मुद्गरैरभिहन्यते ।।"

अर्थात् हे भव्यात्माओं; संसारमें दुर्जनकी संगतिसे पद-पद पर मानहानि होती है, देखो ! लोहेकी संगितसे अग्निभी लोहेके घनोंसे पीड़ितकी जाती है ।

इसलिए यह शत-प्रतिशत सही है कि—

"दुर्जनः परिहर्तव्यो, विद्यया भूषितोऽपि सन् ।
मणिनाऽलंकृतः सर्पः, किमसौ न भयंकरः ।।"

अर्थात् विद्यासे शोभायमान होने परभी दुर्जनसे तो दूर ही रहना योग्य है। जैसे मणिसे शोभितभी सर्प भयंकर-प्राण नाशक ही होता है।

—भर्तृहरि नीतिशतकश्लो० ५३—

इस विषयमें यहभी ध्यान देने योग्य है कि—

"शैले-शैले न माणिक्यं, न मौक्तिकं गजे-गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं नहि वने-वने।।"

अर्थात् प्रत्येक-पर्वत पर माणिक्य (रत्न विशेष) नहीं पाया जाता, प्रत्येक हाथीके गंडस्थलमें मोती नहीं होते, सब जगह सत्पुरुष नहीं होते तथा प्रत्येक वन-पर्वतमें चन्दनके वृक्ष नहीं मिलते।

सुन्दर कविने भी लिखा है—

"तात मिले पुनि मात मिले, सुत-भ्रात मिले, युवती सुखदाई।
राज मिले गज बाजि मिले, सब साज मिले, मनवांछित आई।।
लोक मिले परलोक मिले, सुरलोक मिले, बैकुंठमें जाई।
'सुन्दर' आय मिले सबही, इक दुर्लभ सन्त-समागम भाई।।

अर्थात् सुख देने वाले; माता-पिता, पुत्र-भाई और युवती आदि मिल सकते हैं, इसी प्रकार इच्छाके अनुसार; राज्य, हाथी, घोड़े, साज-सज्जाका सामानभी प्राप्त हो सकताहै, इतना ही नहीं अपितु इस लोकके साधन तथा देवलोक और इन्द्रलोक भी प्राप्त हो सकता है, परन्तु हे भाई! सन्तोंका समागम मिलना बहुत ही कठिन हैं।

इसी प्रकार संगतिके विषयमें 'दीन' कविने भी लिखा है—

"ज्ञान बढ़े गुणवान की संगति, ध्यान बढ़े तपसी संग कीने।
मोह बढ़े परिवार की संगति, लोभ बढ़े धनमें चित दीने।।
क्रोध बढ़े नर मूढ़ की संगति काम बढ़े तिय का संग कीने।।
बुद्धि-विवेक-विचार बढ़े, कवि दीन सुसज्जन संगति कीने।।"

अर्थात् गुणीकी संगति करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती हैं, तपसी (साधु)की संगतिसे ध्यानकी बढ़वारी होती है। कुटुम्ब-परिवार की संगतिसे मोहकी वृद्धि होती है। धनमें बार-बार मनको भटकाने से लोभ वृद्धिगत होता है। मूर्ख-अज्ञानी मनुष्यकी संगतिसे क्रोध (गुस्सा) पनपता है। स्त्रियोंकी संगतिसे काम-वासना जाग्रत होती है और सत्पुरुषकी संगति करनेसे बुद्धि-विवेक विचारों (भावों) की बढ़वारी होती है।

रामायण में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिये तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥"

इसी प्रकार गोस्वामीजीने ही उल्लेख किया है—

पुण्य पुंज बिन मिलहिं न सन्ता।
संतसंगति कर संसृति-अन्ता ॥"

अर्थात् विशेष पुण्यके बिना सन्तोंका समागम नहीं होता, जिससे कि कष्टों,की कारणभूत संसृतिका (जन्म मरण रूप संसार परिभ्रणका) विनाश होता है। अतः हमें ध्यान देना चाहिए कि— 'बिन सत्संग विवेक न होई' तथा 'संगतिही गुण ऊपजै, संगतिही गुण जाय।'

बुधजनजी रचित सतसईमें भी उल्लेख है—

"सत्संगतिमें बैठतां, जन्म सफल हो जाय" ४४३
"सत्संगति आदर मिले, जग-जन करे बखान" ४४४

अर्थात् सत्संगतिमें बैठनेसे जन्म, सफलहो जाता है और सत्संगतिसे आदरभी मिलता है तथा संसारी जन गुण गान करते हैं।

'मेरी चाह' नामक धार्मिक-पाठमें कवि द्यानतरायजीने लिखा है—

"मैं साधुजनको संग चाहूं, प्रीति तिनहीं सों करू"

कबीरदासका निम्न दोहाभी 'इस प्रसंगमें कंठस्थ करने योग्य है—

"राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय ।
जो सुख साधु–संगमें, सो बैकुण्ठ न होय ।।"

अर्थात् जब बैकुंठमें ले जानेके लिए कुछ-व्यक्ति कबीरदासजी के निकट आये तो कबीरदासजी रोने लगे कि जो मजा-आनन्द, साधु-संगतिमें है, वह आनन्द–सुखतो बैकुंठमें भी नहीं है। मुझे तो यहां साधु–सत्संगतिमें रहनाही इष्ट है।

सन्त नानकने भी लिखा है—

"सत्संगत परताप तें, मिटै अविद्या–जाल ।
बार–बार बरनन करे, नानक देव दयाल ।"

आचार्य श्रीसोमदेवने लिखा है—

'हरति कुमति, भिन्ते मोहं, करोति विवेकितां,
वितरति रति, सूते नीतिं, तनोति गुणावलि ।
प्रथयति यशो, धत्ते धर्मं, व्यपोहति दुर्गति,
जनयति नृणां, किनाऽभीष्टं, गुणोत्तम–संगमः ।"

इसीका जैन कवि बनारसीदासजीने, घनाक्षरी-छन्दके रूप में संत्संगतिका महत्व इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

"कुमति निकंद होय, महामोह मन्द होय,
जगमगै सुयश, विवेक जगै हिय सों ।
नीतिको दिढ़ाव होय, बिनय को बढ़ाव होय,
उपजै उछाह ज्यों प्रधान–पद लिए सों ।।
धर्मको प्रकाश होय, दुर्गति को नाश होय,
बरतै समाधि ज्यों पीयूष-रस पीये सों ।
तोष परिपूर होय, दोष–दृष्टि दूर होय,
एते गुण होय, सत्संगतिके किए सों ।"

—सूक्ति मुक्तावली श्लो० ६६.

एक कविने तीन प्रकारकी संगतिका महत्व इस प्रकार लिखा है—

"देखो ! स्वाति बून्द सीप मुख परी मोती होय,
केलिमें कपूर बांस मांहि वंशलोचना ।
ईखमें मधुर पुनि, नीममें कटुक रस,
पन्नगके मुख परी, होय प्राण मोचना ।
अम्बुज दलनि परी, परी मोती-सम दिपै,
तपन तवै पै परी, नसै कछु सोचना ।
उत्कृष्ट मध्यम जघन जैसो संग मिलै,
तैसो फल लहै मति, पोचमति पोचना ।।"

भर्तृहरिने भी नीतिशतकमें विवेचन किया है—

"जाड्यं धियो हरति, सिंचति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति, पापमपाकरोति ।
चेतः-प्रसादयति, दिक्षु तनोति कीर्ति,
सत्संगति कथय, किं न करोति पुंसां ।।"

अर्थात् सत्संगति, बुद्धिकी जड़ताका विनाश करती है, वाणी-में सत्यताको सींचती है, सम्मानकी वृद्धि करती है, पाप को दूर करती है, मनको प्रसन्न करती है, दशों-दिशाओंमें यश फैलाती है; इस प्रकार कहना होगा कि संसारमें ऐसा कोई कार्य नही जो कि सत्संगतिके प्रभावसे न हो । आत्माको परमात्म-पद भी इसीसे प्राप्त होताहै, फिर अन्य कामोंका तो कहना ही क्या !

अत: हमें महर्षियों की यह सूक्ति ध्यानमें लेना चाहिये कि—
"क्षणमिह सज्जन-संगतिरेका, भवति भवार्णव-तरणे नौका ।"
अर्थात् इस संसारमे सज्जनोंकी संगतिही एक मात्र ऐसी है, जो कि क्षण भरमें, संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये नौकाका काम करती है ।

इसीलिये संसारी प्राणियोंको चेतावनी दी है कि—

"वदनं प्रसाद-सदनं, सदयं हृदयं, सुधामुचो वाचः।
करणं परोकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः॥"

अर्थात् जिनका मुख-कमल सदैव प्रफुल्लित रहता है, हृदय दयासे द्रवीभूत है, वाणीसे अमृत झरता है और अपने उपकारके साथ-साथ निशिदिन पर-उपकारमें भी लगे रहते हैं, ऐसे सन्त-सज्जन पुरुष किनके द्वारा वंदनीय-संगति करने योग्य नहीं हैं ? अर्थात् सभी के वंदनीय-संगति करने योग्य हैं।

दिगम्बराचार्य श्रीपूज्यपाद स्वामीने भी इस सम्बन्धमें चेतावनी दी है कि—

"संगतिः सर्वदार्यैः" अर्थात् जब तक मोक्ष-सुखकी प्राप्ति न हो, तब तक सदैव श्रेष्ठ-पुरुषों की संगति करना चाहिये।

संगतिके सम्बन्धमें हमें संस्कृत की इन सूक्तियों को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि—

"संसर्गेण हि जायन्ते, गुणा दोषाश्च देहिनां" अर्थात् प्राणियों के गुण और दोष, संसर्गसे ही उत्पन्न होते हैं।

"जननीं जन्मभूमिश्च प्राप्य को न सुखायते" अर्थात् जन्म देने वाली माता और जिस ग्राम आदिमें जन्म हुआ है, उसको प्राप्त कर सभी सुखी हो जाते हैं। "संगतिर्दुर्जनानां हि, शोकं यच्छति दारुणम्" अर्थात् दुर्जनों की संगतिसे दारुण-दुख प्राप्त होता है।

"दुष्टोऽपि मुच्यते दोषं, स्वकीयं शिष्ट-संगतः" अर्थात् सज्जन की संगतिसे दुष्ट भी अपने दोष छोड़ देता है।

यद्यपि सत्संगतिके लिये पूर्ण-पुरुषार्थ की आवश्यकता है फिर भी एक महान् दिगम्बर महर्षि का उल्लेख है कि वीतराग-धर्म आदि के साथ-साथ साधुओंकी संगति का होना, महान्-पुण्योदयसे होता हैं। महर्षि का कथन इस प्रकार है—

"जैनो धर्मः प्रकट-विभवः संगति-साधु-लोके ।
विद्वद्गोष्ठी, वचन-पटुता, कौशलं सर्व-शास्त्रे ।।
साध्वी रामा चरण-कमलोपासनं सद्गुरुणां ।
शुद्धं शीलं मतिरमलिना, प्राप्यते नाल्प-पुण्यैः ।"

लेश्या प्रकरणमें एक कविने लिखा है—

"श्रीसत्गुरु संगति मिले, मन का जावे भर्म"

हितोपदेशमें भी उल्लेख है कि—

"असज्जनः सज्जनसंगिसंगात्, करोति दुःसाध्यमपीह साध्यं"

अर्थात् असज्जन-व्यक्तिभी सज्जन-पुरुषकी संगतिसे; दुःसाध्य-कार्यको, सुसाध्य कर लेता है । इसी कारण हृदय-स्पर्शी चेतावनी है कि—

"संसारी का संग न कीजे, दुःख अपनाही रोवे ।
आप मरे विपति के मारे, पर का भला न होवे ।।"

"होता नहिं संसारमें, सन्त-समागम सार ।
'शीतल' शाश्वत सत्य सुख, कैसे हो, भव पार ।।"

संगतिके सम्बन्धमें अर्थ सहित निम्न प्रेरणा पद श्लोक भी चिन्तनीय हैं—

"गुणदोषौ प्रजायेते, संसर्ग-वशतो यतः ।
संसर्गः पावनः कार्यो, विमुच्याऽपावनं ततः ।।"

अर्थात् संसर्गके वशसे क्रमशः गुण और दोष उत्पन्न होते हैं अतः पावन-पवित्र सत्संग करना चाहिये और अपावन-अपवित्र कुसंग को छोड़ना चाहिये ।

',सुशीलोऽपि कुशीलः स्याद् दुर्गोष्ठ्या चारुदत्तवत् ।
कुशीलोऽपि सुशीलः स्यात् सद्गोष्ठ्या मारिदत्तवत् ।।"

अर्थात् खोटी संगतिसे चारुदत्तकी तरह सुशीलभी कुशील हो जाता है । और सत्संगतिसे मारिदत्तकी तरह कुशीलभी सुशील हो जाता है ये दोनों कथायें पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं ।

स एव दिवसः श्लाघ्यः, सा वेला सुख-दायिनी।
धर्मिणां संगमो यत्र, शेषं जन्म-निरर्थकम् ॥"

अर्थात् वही दिन प्रशंसनीय है और वही वेला सुख देने वाली है जिसमें धर्मात्माओंका समागम है। शेष जन्मको तो निष्फल समझना चाहिये।

निष्कर्ष यह है कि इस संसारमें सत्संगतिसे बढ़कर श्रेष्ठ अन्य कोई सुखशांति प्रदायक प्रसंग नहीं। परन्तु मोही-अज्ञानी मिथ्यात्वी व्यक्तियोंकी संगति करना, उनके पास उठना बैठना, चर्चा वार्ता करना, सत्संगति नहीं है, क्योंकि इनकी संगतिमें विकथायें सुननेको मिलती हैं, जिससे व्यक्ति कुमार्ग-बुराईयों-व्यसनोंकी ओर आकर्षित होता है तथा आकुलता (कष्ट) का मार्ग पनपता है एवं दुःखके कारणभूत संकल्प-विकल्प बढ़ते हैं।

परन्तु जो व्यक्ति, पापोंके त्यागी, सप्त-व्यसनोंसे दूर रहने वाले, विकथाओंसे बचने वाले और अभक्ष्य-भक्षणसे दूर रहने वाले हैं तथा ज्ञान-ध्यान-तपमें लीन रहते हैं, ऐसे साधु-सज्जन पुरुषोंकी संगति करना, वास्तवमें सत्संगति है। इससे व्यक्ति अपनी गलत मान्यताओं और क्रियाओंसे दूर हो जाता है। भावोमें निर्मलता आ जाती है। सद्गुणों की प्राप्ति हो जाती है। सदाचारको अपनाता है एवं अपनेमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करने लगता है। मानव होकर मानव कहलाने का अधिकारी हो जाता है। दानवता सर्वथा निर्मूल होकर मानवता-रूपी मुक्ति-महलमें निवास करने वाला हो जाता है। अतः हमें सदैव स्मरण रखना है कि "संगति ही गुण ऊपजे, संगति ही गुण जाय" और "बिना सत्संग विवेक न होई"

इत्यलम्

* धर्म का मर्म *

धर्म-धर्म सबही कहें, पर नहीं समझें धर्म ।

धर्म-मर्म समझें बिना, होता रहे अधर्म ।।

प्रत्येक संसारी आत्माके दुखका कारण 'कर्म' हैं । कर्मका विनाश हुये बिना, सुखकी प्राप्ति नही होती । प्रत्येक-प्राणी सुख चाहते ही हैं । दुखोंका विनाशक धर्म है । सो ही स्वामी-समन्त भद्राचार्यने लिखा है—

'धर्म कर्म-निवर्हणम्'

अर्थात् धर्मही कर्मोंका विनाश करने वाला है अतः हमें धर्म के विषयमें विशेष जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है । धर्मके सम्बन्धमें स्वामी-समंतभद्रने उद्घोष किया है—

'संसार-दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे'

अर्थात् जो संसारके दुःखोंसे प्राणियोंको बचाकर, उत्तम-सुख प्राप्त कराता है, वह धर्म है । सोही एक-कविने भी लिखा है—

"जो संसार-दुक्खसे सारे, जीवों को सु बचाता है ।

सर्वोत्तम-सुखमें पुनि उनको, भली भांति पहुंचाता है ।।"

गद्य-चिन्तामणिमें धर्मके सम्बन्धमें उल्लेख है—

"दयामूलो भवेत् धर्मो, दया प्राणानुकम्पनम्"

अर्थात् दुखी प्राणियोंके दुख दूर करने रूप जो दया भाव है वही धर्म है । इसीकी पुष्टि 'धर्ममहिंसा रूपं' लिखकर श्रीअमृत-चन्द्र सूरिने पुरुषार्थ-सिद्धयुपायमें की है । श्रीयोगीन्द्रदेवसूरिने पर-मातम-प्रकाशमें धर्म-अधर्म का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

'सुह-परिणामे धम्मु पर, असुहें होइ अधम्मु' ७१.

अर्थात् शुभ भावोंसे धर्म और अशुभ-भावोंसे अधर्म होता है। बोध-पाहुडमें श्रीकुन्दकुन्द महर्षिने लिखा है—

'धम्मो दया विसुद्धो' २५ अर्थात् जो दयासे विशुद्ध-भाव है वह धर्म है। इसी प्रकार मोक्ष-पाहुडमें आया है—

'मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो'

अर्थात् मोह तथा क्षोभ रहित आत्माका भाव ही धर्म है।

'संसार-तरण-हेदु धम्मो' ८५

अर्थात् जो संसारसे पार होने का कारण है वह धर्म है।

"शिवसुखलक्ष्मी निबंधने धर्मो" ऐसा पु. सि. उ. श्लोक २६में उल्लेख कर प्रकट किया है कि धर्म वह है जो मोक्ष-सुखरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिमें कारण है।

स्वामी-समन्तभद्रकी यह घोषणाभी धर्मके सम्बन्धमें ध्यान देने योग्य है—

'सदद्रष्टि-ज्ञान-वृत्तानि। धर्मं धर्मेश्वराः विदुः'

अर्थात् धर्मके ईश्वर श्रीतीर्थंकर भगवान; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धर्म कहते हैं।

श्रीपार्श्वपुराण सर्ग १४ श्लोक १२३में आचार्यश्रीने धर्मकी जो व्याख्या की है वह भी ध्यान देने योग्य है—

"भवाब्धौ पतनाच्छीघ्रं, यः उद्धृत्याङ्गिनः शुभे।
स्थापयत्यचलस्थाने, तं धर्मं विद्धि तत्त्वतः॥"

अर्थात् जो प्राणिको, संसाररूपी समुद्रसे निकालकर शीघ्रही पवित्र और अविनाशी स्थानमें पहुँचाता है वह धर्म है।

'धर्मः सुखस्य हेतुः' अर्थात् धर्म वह है जो सुखका हेतु हो, ऐसा श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें उल्लेख किया है। साथ ही चेतावनी दी है कि 'माभूः धर्मस्य विमुखस्त्वम्'

अर्थात् हे प्राणी ! यदि तू वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहता है तो धर्मसे विमुख मत हो ।

लार्ड एवेबरी ने कहा है—'विश्वमें शांति तथा मानवोंके प्रति सद्भावना का कारण धर्म है ।'

'यतो अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे सर्वांगीण उदय-समृद्धि और मोक्षकी प्राप्ति हो, वह धर्म है, ऐसा वैदिक दार्शनिकोंने वैशेषिक-दर्शन १।१।२में उल्लेख किया है । डा० राधाकृष्णन, सत्य और न्याय की प्राप्ति हिंसाके त्यागको धर्म कहते हैं । श्रीविवेकानन्द; मानवमें विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कह कर पुकारते हैं । इसी प्रकार न्यायमूर्ति-नियोगी-महानुभावने,, धर्म की पुष्टि करते हुये एक बहुत सुन्दर मार्मिक उल्लेख किया है—

"यदि इस संसारमें वास्तविक धर्म न हो तो शांति की स्थापना नहीं की जा सकती । जिस प्रकार सैनिक-बल तथा पुलिस के कारण साम्राज्य का संरक्षण, घातक-शक्तियोंसे किया जाता है, उसी प्रकार धर्मसे अनुशासित हृदयके द्वारा, आत्मा, उच्छृंखल और पापपूर्ण प्रवृत्तियोंसे बचकर जीवन तथा समाज-निर्माणके कार्यमें उद्यमी होता है ।'

श्रीगौतमबुद्धने अपने शिष्य रूप भिक्षुओंको धर्मके सम्बन्धमें सम्बोधित किया है—

"देसेथ भिक्खवे ! धम्मं आदि कल्याणं, मज्झे कल्याणं, परियोसान-कल्लाणं"

अर्थात् हे भिक्षुओं ! तुम लोग; आदि कल्याण, मध्य कल्याण और अन्तमें कल्याण वाले धर्मका उपदेश करो ।

—महावग्ग विनय पिटक

महापंडित श्रीआशाधरजीने अनगार-धर्मामृत ११, ६०१में, धर्मके स्वरूपको निम्न मार्मिक शब्दोंमें उल्लेख किया है—

"धर्मः पुंसो विशुद्धिः, सा च सुदृगवगम-चारित्ररूपा" अर्थात् आत्माकी विशुद्धि-आत्माके भावोंकी निर्मलता जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र-स्वरूप है, वही धर्म है।

"दंसण-मूलो धम्मो" अर्थात् धर्म जो है, वह सम्यग्दर्शन स्वरूप है, ऐसा दंसण-पाहुडमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने लिखा है। अमृतचन्द्रसूरिने पु. सि. उ.में, 'सूक्ष्मो भगवद् धर्मो' अर्थात् भगवद् भाषित धर्म जो है वह सूक्ष्म है—गहराई से चिंतन-मनन करने योग्य है ऐसा लिखा है।

गुरुवाणी चतुर्थ-पुष्पमें धर्मके विषयमें लिखा है—

"धर्म निराकुलताकी जननी है, आनंदका पिता है, सुखोंका सहोदर है, *शांतिकी पवित्र-भूमि है।*

रामायण में तुलसी दासजीने लिखा है—

"परहित सरिस धर्म नहीं भाई !
पर पीड़ा-सम नहिं अधमाई"

अर्थात् हे संसारके प्राणियों ! यदि सुख-शांति चाहते हो तो, परोपकारके समान कोई अन्य धर्म नहीं है और दूसरों को दुखी करने के समान अन्य कोईभी अधर्म नहीं है।

एक कविने धर्मके सम्बन्धमें जो दोहोंके रूपमें लिखा है वहभी मनन करने योग्य है—

"ज्ञानी वस्तु-स्वभावको, समझे सचमुच धर्म।
सचमुच वस्तुस्वभावही, सुखदायक है धर्म ।।"

निज-स्वभावमें लीन हो, जब कोईभी जीव,
तब ही वह धर्मात्मा, होता सुखी सदीव ।।"

व्यवहारकी अपेक्षा एक कवि ने लिखा है—

"दैनिक पूजा दान करन, है श्रावकका धर्म ।

करना ध्यान व अध्ययन, है मुनियों का धर्म ।।"

गीतामें धर्मके सम्बन्धमें कितना-मार्मिक उद्‌बोधन दिया है–

"श्रूयतां धर्म-सर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।।"

अर्थात् धर्मके रहस्य को सुनकर सदैव स्मरण रखिये । साथ ही, जो आत्म-कल्याणमें बाधक है, उसे दूसरोंसे भी आचरण न कराइये ।

एक कविने कितना हृदय-स्पर्शी छन्द लिखा है—

"जिसके शुभ प्रभावसे फण धर, बन जाता है मुक्ताहार ।

क्रूर खड़गभी इसी धर्मसे, पुष्पमाल बनती साकार ।।

विष बनता है दिव्य रसायन, बैरी बनते मित्र महान् ।

ऐसा धर्म सुरेन्द्रोपासित, मंगलमय हो पुन्य प्रधान ।।"

महर्षि-कणादका मत है—'यतो अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः'

महर्षि गौतमका मत है—'जीवनमें प्रवृति शुभ होनी चाहिये । जो मोह, राग-द्वेष का निवर्तक हो, वह धर्म है ।

महर्षि-कपिल के मत से—'विवेक में जो सहायक हो वह धर्म है ।

व्यासजीकेमतसे—'यल्लोक-हितमत्यन्तं' यह धर्मकी परिभाषा है ।

महर्षि-अंगिरा—'भगवत्-अर्पित कर्मको ही धर्म मानते है ।'

देवर्षि-नारद—विधि साध्यमान होना और गुरु-परम्परा प्राप्त होना, आवश्यक मानते हैं अर्थात् अपने आचार्य महापुरुषके मतानु-

सार चलना धर्म है।

(कर्मयोग पृ. ७७ स्वामी अखंडानंद)

धर्मके सम्बन्धमें एक कविका यह कटु-सत्यभी वास्तबमें विचारणीय हैं—

"कथनी करनीमें फर्क जहाँ है,
धर्म नहिं पाखण्ड वहाँ है।"

श्रीउमास्वामी-रचित तत्वार्थ सूत्रके नवमें अध्यायमें आया है-
"उत्तगक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः"

अर्थात् धर्म जो है वह; उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव शौच, सत्य, संयम तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य; इन दश लक्षण रूप हैं।

मनुः स्मृतिमें भी निम्न प्रकार दशलक्षण स्वरूप धर्मकी मान्यता है—

"धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म-लक्षणम्॥"

अर्थात् धृति, क्षमा, मनको वश में करना, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध; इन दश लक्षण रूप धर्म है।

बोद्धोंके दशधर्म—जीव दया करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, सत्य, चुगली न करना, गालियां व कठोर वचन न बोलना, लोभ न करना, बैर न करना, ज्ञान की प्राप्ति और किसी का भेद न बतलाना।

ईसाइयोंके दश धर्म—चोरी न करना, खून न करना. झूठ नहीं बोलना, अपराधीको दण्ड देना, प्रेम करना, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, क्रोध न करना, मान न करना और किसी का धन न हड़पना।

मुसलमानों के दश धर्म—रिम्राजत, भगवान् को नमस्कार, खैरात (दान), चोरी न करना, भ्रातृ प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य, मान न करना, साहस रखना, परिग्रह त्याग और धार्मिक ग्रन्थ कुरान पर विश्वास रखना।

आयुर्वेदकी सुप्रसिद्ध-संहिता 'चरक'में दशलक्षण धर्मका विवेचन इस प्रकार है—

१. क्षमावान् धार्मिकः आस्तिकः स्यात्-व्यक्ति को क्षमाशील, धार्मिक और आस्तिक (वस्तुके अस्तित्व व पुण्य-पाप पर विश्वास रखने वाला) होना चाहिये। —क्षमा धर्म

२. नानृतं ब्रूयात्—अर्थात् असत्य न लोले। —सत्य धर्म

३, नाऽहंमानी स्यात्-अहंमन्यता-अभिमान छोड़ो। —मार्दव ध.

४. नान्यस्वमावदीत-दूसरों की वस्तु न लें। —अचौर्य धर्म

५. संपत्-विपत् स्वेकमनः स्यात्—सुख दुखमें समभाव रक्खो। —शौचधर्म

६. नेन्द्रियवशः स्यात्-इन्द्रियके अधीन न हों। —संयम धर्म

७. नैकः सुखी स्यात्—अकेला सुखी न हो अर्थात् दूसरों को दुखीकर-शोषण कर सुखी न बने। —अपरिग्रह धर्म

८. नान्यस्त्रियमभिलषेत्—परस्त्री की अभिलाषा न करे। —ब्रह्मचर्य धर्म

९. ब्रह्मचर्य–ज्ञान-दान–मैत्री–कारुण्य–हर्षोपेक्षा–प्रशमपरश्च-स्यात् अर्थात् ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, त्याग धर्म, मैत्रीभाव, करुणाभाव, सुख दुखमें समभाव तथा शांति धारण करने वाला बने।

इस अंतिम नवमें उद्धरणमें शेष सभी-धर्मो का अन्तर्भाव हो जाता है। धर्मके सम्बन्धमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें जो उल्लेख है, वह भी ध्यान देने योग्य है—

धम्मो वत्थु सहावो, खमादि भावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो, जीवाणं रक्खणे धम्मो ।।"

अर्थात् आत्मा आदि वस्तुके त्रैकालिक रहने वाले स्वभावको धर्म कहते हैं। उत्तम-क्षमादि भाव रूपभी दश प्रकार धर्म का लक्षण है। सच्चरित्र भी निश्चयसे धर्म है और जीवोंकी रक्षा करने बचाने में भी धर्म है।

इस गाथामें चार प्रकारसे धर्मकी परिभाषा की है। जो वास्तव में गहराईसे समझनी चाहिये। विस्तार-भयसे यहां इनके विषयमें अधिक नहीं लिखा जा रहा है। हां; जो अपने आत्माके साक्षात् मोक्ष प्राप्त करनेमें कारण भूत 'वस्तु का स्वभाव धर्म है' इस विषय में निम्न पंक्तियां परम आदरणीय हैं—

"मैं अनादिकालसे चला आया ज्ञान स्वभाव वस्तुरूप आत्मा हूँ, अनन्तकाल तक ऐसा ही रहूंगा। अतः मेरा कर्तव्य है कि मैं आत्मा, स्व-परके भाव-कर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म तथा त्रैकालिक सभी वस्तुओं का और त्रैकालिक सभी पर्यायोंका, मात्र शुद्ध ज्ञाता रहूं। राग-द्वेषादिरूप कभी भी किंचित् मात्र भी नहीं परिणमूं।" ऐसा सोच-समझकर तथा दृढ़ निश्चय करके, स्वयं का मात्र ज्ञाता-ज्ञायकरूप परिणमन करनेका अभ्यास करना, ज्ञाता-स्वभावमें स्थिर होना ही धर्म है। आत्म-शांति अथवा मोक्ष-प्राप्तिका यही सच्चा साधन है।

जब आत्मामें आत्म-स्वभावरूप धर्म व्यक्त होने लगता है तो फिर किसीके भी प्रति राग-द्वेष न रहनेसे 'साम्यभाव-समताभाव' प्रकट हो जाता है और वह समताभाव ही धर्म है। सो ही लिखा है-'धम्मो जो सो समोत्ति णिहिट्ठो' अर्थात् धर्म वह है जो समता-भावरूप है।

समता-आवश्यक धर्मके विषयमें कविवर दौलतरामजीने, छहढालाकी छट्ठी ढालमें कितना मार्मिक-विवेचन किया है—

"अरि-मित्र महल-मसान कंचन,
काच निंदन-थुति करन ।
अर्घावतारन असि-प्रहारन में,
सदा समता धरण ।।"

धर्मके विषयमें जो हमारी दुर्दशा हो रही है, उसका जो मार्मिक उल्लेख किसी आचार्यश्रीने किया है उससे हमें शिक्षा लेना चाहिये । आचार्य श्रीलिखते हैं—

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।"

अर्थात् हम धर्म को जानते हैं—समझते हैं फिर भी उसका पालन नहीं करते । इसी प्रकार हम अधर्म को भी समझते हैं, परन्तु उससे छुटकारा नहीं पाते ।

श्रीमल्लिनाथ पुराणमें उल्लेख है—

"अहो भाद्रपदाख्योऽयं, मासोऽनेक-व्रताकरः ।
धर्महेतुपरो मध्ये, ऽन्यमासानां नरेन्द्रवत् ।।"

अर्थात् धन्य है यह भाद्रपद नामक महीना, जो कि अनेक व्रतों का खजाना है । धर्मके कारणोंमें श्रेष्ठ (उत्कृष्ट) है । तथा व्रतोंका निधान होनेके कारणसे ही, अन्य महीनोंकी अपेक्षा राजा-महाराजा के तुल्य है ।

यहाँ पर यह स्पष्ट झलकता है कि; सोलह कारण, दशलक्षण रत्नत्रय, सुगंध दशमी एवं अनन्त-चतुर्दशी आदि व्रत-विधानों का करना-कराना भी धर्म है ।

छहढालामें धर्मकी परिभाषा इस प्रकार पायी जाती है-

"जो भाव मोहतें न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे ।
सो धर्म जबै जिय धारे, तबही सुख अचल निहारे ।।"

अर्थात् जो मोहसे रहित सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप भाव हैं वेही धर्म हैं। इनको जब जीव धारण करता है तब वही शाश्वत्-सुखको पाता है।

ऊपर लिखित धर्मकी सम्पूर्णः परिभाषाओंका सार-निचोड़ यह है कि एक तो धर्म वह है जो शुभ-पुण्य भाव सहित शुभ-क्रिया व व्रतों का पालन करना। यह धर्म; साधनरूप होने से व्यवहार-धर्म कहलाता है। इसीसे निश्चय-धर्म की सिद्धि होती है।

हां ! इस व्यवहार-धर्मका सही स्वरूप समझकर उसका बराबर लक्ष्य बना रहे तथा उसके प्राप्त करनेका प्रयत्न-पुरुषार्थभी चलता रहे। दूसरा धर्म है निश्चय। इसे प्राप्त कर लेने पर आत्मा; अविनाशी व निराकुल सुखका अनुभव करने लगता है। वह अपने शुद्ध आत्म स्वभावमें एकाग्रचित्त होकर तल्लीन होनेसे व्यक्त होता है। यह व्यवहार-धर्म द्वारा साध्य है। लक्ष्य रूप है। धर्मकी महिमा का दिग्दर्शन कराते हुये द्वादश-अनुप्रेक्षा की धर्म-भावनामें लिखा है–

"जांचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जांचे बिन चितये, धर्म सकल-सुख देन ॥"

अर्थात् लोकमें कल्पवृक्ष तो; इच्छित-वस्तु प्रदान करने रूप सुख को मांगनेसे देता है। इसी प्रकार चिन्तामणिरत्न भी वांछित वस्तु की प्राप्ति करने रूप सुखको चिन्तवन करनेसे देता है। लेकिन धर्म ही एक ऐसा है जो बिना मांगे और बिना चिन्तवन किये ही, सर्व-सुखोंको प्रदान करता है। एक अन्य कविने भी लिखा है–

"धर्म बिन संसारमें, कोई न वस्तु सार है।
धर्म-बिन हम समझलें, जीवन सभी बेकार है ॥
धर्म बिन डूबेंगें हम, इस जगतके मझधार में !
धर्म बिन फिरते रहे, चारों-गति निस्सारमें ॥"

चैत्यभक्तिमें जो पूज्यपादाचार्यने उल्लेख किया है वह भी ध्यान देने योग्य है—

"क्षान्त्यार्जवादिगुणगण सुसाधनं सकललोकहितहेतुं ।

शुभ-धामनि धातारं, वन्दे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम् ।।"

अर्थात् जो क्षमा, आर्जव आदि गुणोंके समूहकी उत्पत्तिका श्रेष्ठ कारण है, सम्पूर्ण लोकके हित का जो हेतु है और जो शुभधाम-मोक्षमें स्थापित करने वाला है वह धर्म है, जो कि जिनेन्द्रदेव कथित है। ऐसे धर्म को नमस्कार करता हूं।

श्रीशुभचन्द्राचार्यने ज्ञानार्णवमें चेतावनी दी है—

धर्मो गुरुश्च मित्रं च, धर्मः स्वामी च बांधवः ।

अनाथ-वत्सलः सोऽयं, स त्राता कारणं विना ।।२११।।"

अर्थात् धर्म ही गुरु-सन्मार्ग दर्शक और मित्र है। धर्मही स्वामी (परम-संरक्षक) और बन्धु-हितैषी है। धर्म ही अनाथ-वत्सल (असहाय प्राणियोंसे प्रीति करने वाला) तथा निःस्वार्थ भावसे सर्वकष्टों से बचाने वाला-रक्षा करने वाला है।

धर्मके विषयमें लेखक द्वारा लिखित निम्न पंक्तियां भी पठनीय हैं—

"जो चाहता है धर्म करना, जो कि सुख की खान है ।

पहिचाना पहिले उसे, निज-आत्मा गुणवान है ।।

धर्म का सम्बन्ध वास्तवमें, निजातमसे रहा ।

अतएव कोटि-प्रयत्नसे, समझो निजातम जिन कहा।।१।।

आगे और भी लिखा है—

यदि चाह ही है धर्म करने की, तुझे हे आत्मन् !

धर्म तेरा जानना है, जाननेमें रह मगन ।।

जानने वाला सदा से, है रहेगा तू सदा ।

जाननेमें रह मगन, आनंद ही फिर सर्वदा ।।२।।

अन्तमें लिखा गया है—

हैं अनंतानंत आतम, इस जगतमें सर्वदा ।
नित्य रहते शुद्ध-ज्ञायक, धर्म यह शाश्वत् सदा ।।
तू भी उनमें एक आतम, शुद्ध ज्ञायक ही तो है ।
हो मगन उसमें सदा, आनंद ही आनंद है ।।३।।"

श्रीयौगीन्द्रदेवसूरिने योगसार महाशास्त्रमें सम्बोधित किया है कि—

"धम्मु ण पढियइं होइ धम्मु, ण पोथा-पिच्छियई ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु, ण मत्था लुंचियइं ।।४७।।"

अर्थात् धर्म-शास्त्रोंके पढ़ लेने मात्रसे, धर्म नहीं होता और न शास्त्रोंके संग्रह तथा पिच्छिका धारण करने मात्र से धर्म होता है। किसी मठमें रहनेसे भी धर्म नहीं होता और न शिरके केशोंको घास-फूसकी तरह उखाड़ देने-केशलौंच करनेसे ही धर्म होता है। तो फिर धर्म कैसे होता है ? मानों शिष्यके ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

"राय रोस बे परिहरिवि, जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण उत्तियउ, जो पंचम गइ णेइ ।।"

अर्थात् जो कोई राग और द्वेष इन दोनों को दूर करके अपने आत्म स्वभावमें निवास करता है, वही श्रीजिनेन्द्रदेव द्वारा धर्म कहा गया है और ऐसा धर्म ही पंचमगति-मोक्षको प्राप्त कराता है।

धर्म के सम्बन्धमें निम्न दोहे कितने महत्वपूर्ण हैं—

"धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण ।
धर्म-पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच-समान ।।
धर्म किये सुख होत है, धर्म किये सुर होय ।
धर्म किये शिवपुर बसे, धर्म-समान न कोय ।।"

धर्मके ही सम्बन्धमें निम्न दो दोहे बहुत ही आकर्षक शैलीमें, मुनि विद्यानंदजी सुनाया करते हैं—

"धर्म बढ़े से धन बढ़े, धन बढ़ मन बढ़ जाय।
मनके बढ़े सुरुचि बढ़े, बढ़त-बढ़त बढ़ जाय ।।
धर्म घटेसे धन घटे, धन घट मन घट जाय।
मनके घटे सुरुचि घटे, घटत-घटत घट जाय ।।"

धर्म-अधर्मके विषयमें स्वामी-समंतभद्रने रत्न करण्ड श्रावकाचारमें लिखा है—

"श्वापि देवोऽपि देवःश्वा, जायते धर्म-किल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ।।"

इसका सरल व सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है—

सुन्दर धर्माचरण किये से, कुत्ता भी सुर हो जाता।
पापाचरण किये से त्योंही, श्वान योनि सुर भी पाता ।।
ऐसी कोई नहीं सम्पदा, जो न धर्मसे मिलती है।
सब मिलती है, सब मिलती है, सब मिलती है, मिलती है ।।"

धर्म का महत्व प्रदर्शित करते हुये श्रीकुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं-

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तस्स पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो ।।"

अर्थात् अहिंसा, संयम और तपश्चरण-रूप धर्मही उत्कृष्ट मंगल है। यह धर्म जिसके मनमें निवास करता है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।

धर्म का महत्व प्रकट करते हुये चेतावनी रूपमें श्रीवादीमसिंह सूरि लिखते हैं कि—

"पश्यात्मन्! धर्ममाहात्म्यं, धर्मकृत्यो न शोचति।
विश्वैर्विश्वस्यते चित्रं, स हि लोकद्वये सुखी ।।"

अर्थात् हे आत्मन्! तू धर्मका माहात्म्य तो देख कि धर्मात्मा व्यक्ति दुखी नहीं होता, सभी उसका विश्वास करते हैं और उभयलोक में वह सुखी रहता है।

धर्मकी महिमाका जो सजीव चित्रण, पूज्यपाद स्वामीने किया है वह बार-बार स्मरणीय है—

"धर्मः सर्व-सुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः॥
धर्मान्नास्ति परः सुहृद् भवभृतां, धर्मस्य मूलं दया।
धर्मे चित्तमहंदधे प्रतिदिनं, हेधर्म! मां पालय॥"

अर्थात् धर्म; सर्व-सुखोंका निधानहै, हित करने वाला है। बुद्धिमान लोग धर्मको ही अपने आत्मामें व्यक्त करतेहैं। धर्मसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है। ऐसे धर्मके लिए नमस्कार है। संसारी प्राणियों का धर्मके, सिवाय सच्चा सुख प्रदायक अन्य उपकारी मित्र नहीं है। धर्मका मूल दया है। मैं धर्ममें चित्तको संलग्न करता हूं। हे धर्म! तू प्रतिदिन मेरी रक्षाकर।

सम्यक्त्व-कौमुदीमें धर्मके विषयमें जो लिखा है, उसका श्लोक ४५४ इस प्रकार है—

"यथा चन्द्रविना रात्रिः, कमलेन सरोवरं।
तथा न शोभते जीवो, बिना धर्मेण सर्वदा॥"

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमाके बिना रात्रिकी और कमलके बिना तालाबकी शोभा नहीं है, उसी प्रकार धर्मके बिना जीवकी शोभा नहीं है।

धर्मके सम्बन्धमें आचार्य विद्यासागरजीकी निम्न-चेतावनी पुनः पुनः स्मरणीयहै—

तू धर्म-धर्म कहता, उसका न मर्म—
है जानता, फिर मिले, किस भांति शर्म।

क्या धर्म है विदित है, न मुझे अभी-भी,
तो क्यों मिले शिव तुझे, न मिले कभी-भी ।।

—निजानुभवशतक

धर्मके विषयमें लेखक द्वारा लिखित निम्न-पद्य रूप चार पंक्तियां भी स्मरणीय है—

"धर्म बन्धु है, धर्म मित्र है, धर्म रसायन इस जगमें ।
मित्रो ! धर्महि है कुटुम्ब अरु, निधि-निधान है जगतीमें ।।
धर्महि कल्पवृक्ष चिन्तामणि, धर्महि कामधेनु है मित्र !
है अचिन्त्य औषधि अरु रत्न, धर्महि सुख-समृद्धि-चारित्र ।।"

हमें महर्षियोंकी इस वाणीको कभीभी विस्मृत नहीं करना चाहिये कि यदि हम धर्मसे विमुखहैं तो पशुके समान हैं—

"धर्मेण हीना: पशुभि: समाना:"

महर्षियों का निम्न श्लोकभी चिर स्मरणीय है—

"येषां न विद्या न तपो न दानं,
न चापि शीलं न गुणो न धर्म: ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता:,
मनुष्य-रूपेण मृगाश्चरन्ति ।।"

अर्थात् जिन व्यक्तियोंकी आत्मा; विद्या, तप, दान, शोल, गुण और स्व-स्वभावरूप परिणतिसे परिणत धर्म रूप नहीं है, वे इस संसारमें पृथ्वीके लिये व्यर्थही बोझ बने हुये हैं तथा मनुष्य कहलाकर हिरणोंके रूपमें विचरण कर रहे हैं ।

परमोपकारी साधु-सन्तोंने, हमें धर्म धारणके लिये, संबोधित करनेमें, अनेक युक्तियों से समझायाहै, क्याही अच्छा हो, उस धर्मके मर्मको समझकर अपने-आत्मामें प्रकट करें तथा अभूतपूर्व आनन्दको देदीप्यमान ज्योति प्राप्त कर सदा-सदाके लिए सुखीहो जावें ।

धर्मके विषयमें महर्षि पूज्यपादके निम्न वचनामृत भी महत्वपूर्ण हैं—

"अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः ।
सन्निहित सदा मृत्युः, कर्तव्यो धर्म-संग्रहः ।।"

अर्थात् शरीर नाशवान है । वैभव भी शाश्वत् रहने वाला नहीं । मृत्यु कब हो जाय, यह मालूम नहीं । अतः धर्मका संचयही अति आवश्यक और कल्याणकारी है ।

कल्याणकारी-धर्म, जिसके, बल पर भाग्यका सितारा देदीप्यमान होताहै उसके विषयमें महापुराण में श्लोक १०४ पर्व ४१ में बताया है—

"दानं पूजा च शीलं च, दिनेपर्वण्युयोषितम् ।
धर्मः चतुर्विधः सोऽय, माम्नातो गृहमेधिनाम् ।।"

अर्थात् सत्पात्रोंको दान, बीतराग भगवानकी पूजन, शील ब्रह्मचर्यका धारण-पालन और अष्टमी तथा चतुर्दशो रूप पर्वकालमें उपवास करना, इस प्रकार यह, गृहस्थोंके लिए, चार प्रकारका धर्म है । इस धर्मका महत्व बताते हुए ज्ञानार्णवमें आया है—

"न धर्मसदृशः कश्चित्, सर्वाभ्युदय-साधकः"

अर्थात् धर्मके समान अन्य कोई भी स्वर्ग व अपवर्ग (मोक्ष) रूप अभ्युदय का साधक-कारण नहीं हे ।

पं॰ सदासुखजीने श्रोताके स्वरूपमें, धर्मका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"जो दयामय होय, अर सुखका करने वाला होय, अर युक्तितैं प्रमाण-नयतैं जामें बाधा नाहीं आवे, अर भगवान-सर्वज्ञ वीतरागके आगमतैं प्रवर्त्या होय" ऐसा धर्म है ।

धर्मके सम्बन्धमें मुनि-महात्माओंकी निम्न सूक्तियां भी प्रतिदिन चिंतवन करने योग्य हैं—

"धर्म एव स्वसामर्थ्यात् दत्ते हस्तावलम्बनम्"

अर्थात् धर्मही स्वकी सामर्थ्यसे प्राणियोंको हस्तावलंबन देता है ।

"धर्मो ददाति निर्विघ्नं, श्रीमत्सर्वज्ञ-वैभवम्"

अर्थात् उस अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मीके स्वामी श्रीसर्वज्ञ भगवानके वैभवको, धर्मही प्रदान करता है, जो कि सम्पूर्ण बाधाओंसे रहित है।

"धर्मो व्यसन-सम्प्राप्ते, पाति विश्वं चराचरं"

अर्थात् त्रस-स्थावर जीवोंसे परिपूर्ण, चराचर-विश्वको, संकट प्राप्त होने पर, धर्मही बचाता है।

—ज्ञानार्णव श्लोक १५४,२१३,२१४-

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं' अर्थात् धर्मसे ऊर्ध्वगमन यानी स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है। —सम्य० को०

"जन्तुमुद्धरते धर्मः, पतन्तं जन्म-संकटे" ॥१॥

अर्थात् जन्म-मरणादि रूप कष्टको प्राप्त हुए प्राणी के लिए धर्मही उद्धार करने वाला है।

—आचार्य पद्मनंदि

"सो धर्म मुनिनकरि धरिये" वह धर्म मुनियों द्वारा धारण किया जाताहै तथा "सो धर्म जबै जिय धारे, तबहि सुख अचल निहारे" वह धर्म जब जीव धारण करताहै तभी अचल-सुखका रसास्वाद लेता है।

—छहढाला पांचवीं ढाल-

"धर्म बिन कोई नहिं अपना" धर्मके अलावा आत्माका अन्य कोई सहायक नहींहै।

—कवि बुधजन-

"इस असार संसारमें, धर्म सुखोंकी खान।
जो नर पाले प्रेमसे, वे ही महिमावान ॥"

अर्थात् इस सार रहित संसारमेंधर्मही सुखोंकी खान है। जो नर इसे बड़े प्रेमसे पालन करते हैं वे ही वास्तवमें महिमावान हैं।

—एक अज्ञात कवि—

"बड़े-भाग्यसे नरतन पाया, खोना इसको व्यर्थ नहीं।
धर्म-मार्ग पर डटे रहो तुम, धर्म बिना उद्धार नहीं ॥"

बड़े भाग्य से नर तन मिला है। इसको व्यर्थ नहीं खोना। तुम धर्म-मार्ग पर डटे रहो। इस धर्मके बिना तुम्हारा उद्धार नहीं होगा।

—सुज्ञान माला

"सत्य बात तो है यह चेतन !
धर्म सभी को सुखकारी।
धर्म बिना सब-वैभव जगमें
सर्व-दुखों का अवतारी ॥"

हे चेतन ! सत्य-सही बाततो यह है कि धर्म, सभीको सुख देने वाला है। धर्मके बिना इस संसारमें सभी-वैभव दुखोंको उत्पन्न करने वाला है। इसलिए—

"धनदे तनको राखिये, तनदे रखिये लाज।
धनदे तनदे लाजदे, एक धर्मके काज ॥"

अर्थात् धन देकर तनको बचाना चाहिये, तन देकर इज्जतको बचाना चाहिये, साथही धर्मके लियेतो धन, तन और लाज इन तीनों को ही न्योछावर कर देना चाहिये।

इस प्रकार ऋषि-महर्षियोंकी वाणीके अनुसार, हम धर्मके सम्बन्धमें कई प्रकारसे बहुत कुछ समझ चुके हैं। फिरभी सार रूपमें कुछ मुख्य-शंकाओंके संक्षिप्त-समाधान रूपमें समझना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे धर्मका मर्म अथवा रहस्य संक्षेपमें समझमें आ जाय।

शंका—धर्मकी आवश्यकता किसलिए है ?

समाधान—प्रत्येक संसारी-प्राणी कर्मोंके कारण दुखी है। तथा दुखी है, इसी कारण सुख चाहताहै। सुख प्राप्तिका उपाय धर्म है क्योंकि दुःखदायक-कर्मोंका विनाश, धर्मसे ही होताहै। अतः धर्म की नितान्त आवश्यकता है।

शंका—धर्मका सम्बन्ध किससे है ?

समाधान—वास्तवमें धर्मका सम्बन्ध प्रत्येक संसारी आत्मा से है क्योंकि आत्माही धर्ममय है। उस धर्मकी व्यक्ति-प्रकटता स्वयं आत्मासे, आत्मामें, आत्माको, स्वयंके लिए होतीहै। फिरभी व्यवहारसे नीचली दशा हीनदशामें, उस आत्म-धर्मकी प्रकटतामें बाह्य कारण; सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु होनेसे, इनसेभी धर्मका सम्बन्ध है।

शंका—धर्मका स्वरूप क्या है ?

समाधान—प्रत्येक वस्तुका स्वभावही धर्महै। स्वभाव वह है जो त्रैकालिक हो, शाश्वत् रहे। आत्माभी एक वस्तु है। उसका स्वभाव, शुद्धज्ञानमय है। अतः शरीरस्थ अपने आत्माके स्वभावरूप शुद्धज्ञानमें रहना। प्रत्येक-पदार्थ का शुद्धज्ञाता रहना; अपनेको राग-द्वेषादि रूप परिणत नहीं होने देना, कोईभी संकल्प-विकल्प नहीं करना। यही धर्मका मर्म (रहस्य) अथवा स्वरूप है।

शंका—धर्म-धारण करनेके अधिकारी कौन हैं ?

समाधान—सामर्थ्यके अनुसार चारों-गतियोंके जीवात्मा; धर्म धारणके अधिकारी हैं। लेकिन धर्मको पूर्ण विकसित करनेके अधिकारी तो मानव गतिके आत्माही हैं।

शंका—धर्मका क्या फल है ?

समाधान—धर्मका वास्तविक फल; आत्मामें निराकुलता रूप शश्वत्-सुखका प्रकट होना अथवा सम्पूर्ण-दुखोंका आत्मासे दूर होना है।

निष्कर्ष यहहै कि धर्म-स्वरूप अपना आत्माही है, आत्मा धर्म का धारक इसलिये है कि वह दुखी है। दुखी कर्मोंके कारणसे है तथा कर्मोंसे दुखी होनेसे सुख चाहताहै। धर्मके योग्यभी आत्माही है। धर्मका फलभी उसीमें उत्पन्न होताहै और धर्मफलका भोक्ता-शाश्वत् सुखका अनुभवकर्ताभी आत्माही है। वास्तवमें धर्मही आत्मा और आत्माही धर्म है।

—इत्यलम्

—: व्रतः स्वरूप और माहात्म्य :—

व्रतके सम्बन्धमें हमारे ऋषियोंके भावको, कविवर दौलतराम जीने छहढालाकी चौथी ढालमें कितना सुन्दर लिखा है—

"बारह व्रतके अतिचार, पन-प्रन न लगावे।

मरण-समय सन्यास धार, तसु दोष नशावे॥

यों श्रावक व्रत-पाल, स्वर्ग सोलम उपजावे।

तहतें चय नर-जन्म पाय, मुनि हो शिव जावे॥"

यहाँ इस छन्दमें अतिचार-रहित बारह व्रतोंका पालन करने वाले तथा निर्दोष सल्लेखना व्रतको धारण करने वाले श्रावककी महिमाका गुणगान किया है, कि ऐसा श्रावक पहले तो सोलहवें स्वर्गतक उत्पन्न होता है एवं फिर मनुष्य-जन्म धारण कर व मुनि-व्रतोंको अंगीकार करके मोक्षको प्राप्त करता है।

व्रतोंके धारण-पालनका इतना महान जब महत्व है, तब क्यों नहीं हम इस विषयको विशेष रूपमें समझें। अर्थात् अवश्यही इस विषय को समझनेकी कोशीस करना चाहिये।

हाँ तो व्रत कहिये या संयम अथवा सदाचार-सच्चरित्र या सम्यक् चारित्र; एकही बात है। श्रीउमास्वामीसूरिने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र संख्या एकमें व्रतकी परिभाषा इस प्रकार की है—

"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह; इन पाँच पापोंका त्याग करना, व्रत कहलाता है।

यहाँ आचार्यश्रीने मुख्य रूपमें पांच पापोंके त्याग को व्रत कहा है। परन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य हैं कि इन पांचों-पापोंके

अन्तर्गत, संसारके अन्य जितनेभी पाप-बुराइयाँ हैं, वे सब इनमें गर्भित हो जाते हैं जैसे—

"जुआ खेलन मांस मद, वेश्यागमन शिकार।
चोरी परमणी-रमण, सातों व्यसन विचार॥

अपेक्षासे इन जुआ खेलन आदि सात-व्यसनोंका समावेश उक्त पापोंमें ही होता है। इसी प्रकार—

"ओला घोरबड़ा निशिभोजन, बहुबीजा बेंगन सधान।
बढ़ पीपल गूलर कठूम्बर, पाकर जो फल होय अजान॥

कंदमूल माटी विष आमिष, मधु मक्खन अरु मदिरा-पान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस, जिनमत ये बाईस बखान॥"

इन अभक्ष्य-भक्षणरूप बाईस बुराइयोंका समावेशभी, अपेक्षासे उपरोक्त पंच-पापोंमें ही होता है। हाँ हमारे ऋषि-महर्षियोंने इन्हें जो अलग-अलग बताया है, तो अपेक्षासे इनका अलग-अलगभी त्याग करना होता है।

पाप या बूराईका त्याग कर अपनेको शुभ-कार्योंमें संलग्न करने की प्रतिज्ञा लेनेको भी व्रत कहते हैं; क्योंकि पापोंका त्याग किये बिना कोई भी जीवात्मा, शांतिपथका पथिक नहीं हो सकता। शांतिपथका पथिक होनेके लिये, सांसारिक विषय-वासनाओंसे भी मुख मोड़ना पड़ता है। इतनाही नहीं अपितु एकाग्रचित्त होकर सच्चे-देव शास्त्रगुरु और सप्त तत्वोंको भी ठीक ठीक समझना पड़ता है।

तत्त्वार्थसूत्रके ही अध्याय सात, सूत्र अठारहमें 'निःशल्योव्रती' लिखकर आचार्यश्रीने यह चेतावनी दी है कि मात्र व्रतोंको धारण कर लेनेसे अपने को व्रतीमत समझ बैठना; क्योंकि व्रती-संज्ञा वास्तव में शल्य रहित होने पर ही होती हैं। वे शल्य; माया, मिथ्यात्व और निदानके रूपमें तीन हैं। एक कविने लिखा है—

"संयमकी सीमा मत तोड़ो, अंधे होकर तुम मत दौड़ो।
शाश्वत् सुखकी है यह औषधि, तुम सब इससे नाता जोड़ो॥"

चारित्र-मोहनीय कर्मके उदयसे जो संयम-व्रत धारण नहीं कर सकते ऐसे सम्यग्दृष्टियोंके विषयमें कवि दौलतरामजीने एक भजनमें लिखा है—

"चिन्मूरति दृगधारी की, मोहि रीति लगत है अटापटी।
संयम धर न सके पै संयम,-धारणकी उर चटापटी॥"

संसारके सभी धर्मों-सम्प्रदायोंने व्रत-संयमको किसीन किसी रूपमें स्वीकार किया ही है, क्योंकि व्रतही प्रत्येक धर्मकी मूल जड़ कहो या नींव-आधार-शिला है। आत्मकल्याणकी भावनासे स्वेच्छा पूर्वक जीवन भरके लिये अथवा परिमित, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, दो वर्ष आदिके लिये शुभ-पुन्यकार्य करनेका संकल्प करना या हिंसादि पापकार्य का त्यागनाभी व्रत कहलाता है। पुरुषार्थसिद्धि उपाय श्लोक चालीसके अनुसार चारित्र (व्रत) की परिभाषा इस प्रकार है—

"हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेः, चारित्रं जायते द्विविधं॥"

यहां यह समझाया गया है कि हिंसादि पांचों पापो का त्याग करना तो चारित्र व्रत है ही; पर यदि इन पापों का सर्वथा त्याग किया जाता है तो वह महाव्रत कहलाता है और एकदेश पापोंका त्याग करने पर वह देशव्रत-अणुव्रत संज्ञाको प्राप्त होता है।

लगभग इसी उक्त भावकी पुष्टि समन्तभद्राचार्य द्वारा रत्न-करण्डमें हुई है। श्लोक ४६ इस प्रकार है—

"हिंसाऽनृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रं॥"

यहाँ इतना विशेष उल्लेख है कि हिंसादिक पांचों दोष, पापके आस्रव द्वार है और इनका त्याग जब ज्ञानी व्यक्तिके होता है, तभी ये चारित्र या व्रत कहलाते हैं।

श्रीअमृतचंद्रसूरिने तत्त्वार्थसारमें भी लगभग उक्त अभिप्राय को ही निम्न तरहसे व्यक्त किया है—

"हिंसाया अनृताच्चैव, स्तेयादब्रह्मतस्तथा ।
परिग्रहाच्च विरतिः, कथयन्ति व्रतं जिनाः ॥"

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरति-छुटकारा पाना व्रत है और यह या ऐसा श्रीजिनदेव कहते हैं ।

इस प्रसंगमें द्रव्यसंग्रह महाशास्त्रकी गाथा ४५ इस प्रकार है जो कि ध्यान देने योग्य है—

"असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वद समिदिगुत्ति रूवं, ववहारणया दु जिण-भणियं ॥"

अर्थात् अशुभसे छुटकारा होना तथा शुभमें प्रवृत्ति होना चारित्र-व्रत है; तथा यह व्रत, समिति और गुप्ति-स्वरूप है एवं यह व्यवहाररूपसे श्रीजिनदेवने कहा है ।

द्रव्यसंग्रहकी ही गाथा पैंतीसमें इस प्रकार विवेचन है—

"वयसमिदिगुत्तिओ, धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेयं, णायव्वा भावसंवर विसेसा ॥"

इस गाथामें व्रत, समिति और गुप्तिके साथ-साथ; उत्तम-क्षमादि दस धर्म, अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षा तथा क्षुधा-तृषादि बाईस परीषहजयको भी चारित्रमें ही सूचित किया हैं तथा इन सबको भाव संवरका कारण लिखा है ।

संयम जो कि व्रतका ही एक रूप है, इसके विषयमें सिद्धान्त चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्यने गोमट्टसार जीवकाण्ड गाथा ४६५ में इस प्रकार विवेचन किया है—

"वद समिदिकसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण पालण णिग्गह, चागजओ संजमो भणिओ ॥"

अर्थात् अहिंसादि व्रतोंको धारण करना, ईर्यादि समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह, मन-वचन-कायकी कुत्सित क्रियारूप दण्डों का त्याग तथा स्पर्शादि पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना, यही संयम (व्रत) कहा गयाहै।

व्रतके सम्बन्धमें, स्वामी समन्तभद्रने, श्रीरत्नकरण्ड महाशास्त्र श्लोक ८६ में एक महत्वपूर्ण बात इस प्रकार लिखीहै—

"यदनिष्टं तद्व्रतयेद् यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसंधिकृताविरति, विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥"

अर्थात् जो वस्तु अनिष्टहै उसका त्याग किया जावे और जो अनुपसेव्यहै उसकाभी त्याग किया जावे। इस प्रकार योग्य विषयोंसे भी भावपूर्वक छुटकारा पाना व्रतहै।

श्रीपूज्यपाद स्वामीने, इष्टोपदेशमें, व्रतके सम्बन्धमें, जो महत्त्वपूर्ण बात लिखी है, वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"वरंव्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्वतनारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥"

अर्थात् अव्रतोंसे नारकी होनेकी अपेक्षा, व्रतोंसे देव-पर्याय प्राप्त करना श्रेष्ठ है। जिस प्रकार लोकमें एक व्यक्ति धूपमें खड़ाहै उसकी अपेक्षा दूसरा छायामें खड़ा रहने वाला श्रेष्ठ है।

इस व्रतके सम्बन्धमेंही समाधितंत्रके श्लोक ८३, ८४, और ८६में जो उल्लेख है वहभी ध्यान देने योग्य है—

"अपुण्यमव्रतैः पुण्यं, व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥
अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत् तान्यपि सम्प्राप्य, परमं पदमात्मनः ॥
अव्रती व्रतमादाय, व्रती ज्ञान-परायणः।
परात्मज्ञान सम्पन्नः, स्वयमेव परो भवेत् ॥

अर्थात् अव्रतोंसे अपुण्य (पाप) होताहै तथा व्रतोंसे पुण्य होता है और इन दोनोंके (पाप-पुण्यके) विनाशसे, मोक्ष होताहै। अतः मोक्षार्थीका कर्तव्यहै कि वह अव्रतोंकी तरह व्रतोंका भी त्याग करे। अव्रतोंका त्याग करके व्रतोंमें संलग्न हुआ आत्मा; परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करके व्रतोंका भी त्याग कर देता है। व्रत-विहीन व्यक्ति व्रतोंको ग्रहण करके व्रती होकर ज्ञानमें तत्पर होवे, फिर परात्मज्ञानमें सम्पन्न होकर स्वयंही परमात्मा हो जाता है।

सिद्धान्त-चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्यने द्रव्य संग्रह गाथा ५७में जो 'तप और श्रुतके साथ व्रतोंका धारक आत्माही ध्यान रूपी रथकी धुराको साधनेमें समर्थ होता है' ऐसा लिखा है वह वास्तवमें ध्यान देने योग्य है। गाथा इस प्रकार है—

"तवसुदवदवं चेदा, झाणरह धुरंधरो हवे जह्मा।
तम्हा तत्तिय णिरदा, तल्लद्धीए सदा होइ॥"

इसका सरल व सुन्दर हिन्दी-पद्यानुवाद इस प्रकार है—

"तपश्रुत और व्रतोंका धारक, ध्यानसु रथमें होय निपुण।
अतः तपादि तीनमें रतहों, परमध्यानके लिए निपुण॥"

व्रत-संयमके विषयमें जो स्वर्गीय डा० कामताप्रसाद जैनने लिखाहै वहभी विचारणीयहै—

"व्रत चाहे छोटे रूपमें किया जावे, परन्तु विधिसे किया जावे तो बड़ा फल देताहै। वटका वृक्ष देखाहै, कितना बड़ा होताहै, परन्तु इतने बड़े पेड़का बीज पोस्ताके दानेसे भी नन्हा होताहै। नन्हा-सा ठोस बीज जैसे महान फल देताहै, वैसेही नन्हासा व्रतभी सार्थक होकर जीवनमें बड़ीसे बड़ी सफलताको देता है।"

भारतके महामहिम-राष्ट्रपति श्रीनीलम-संजीव-रेड्डीका स्वाधीनता दिवस पर सादगी का सन्देशहै—

"शान-शौकतका जीवन बिताने पर अंकुश जरूरी....
अदूरदर्शी-समाज पतनके गर्तमें बह गये....।"

एक कविने कितना हृदय-स्पर्शी उल्लेख कियाहै—

"जीवनको महकाने वाला, व्रतही फल अरु फूल है।
व्रतके बिना शांति सुख होवे, यह आशा निर्मूलहै ।।"

एक अच्छे लेखकने भी लिखाहै—

"अणुव्रतों अथवा महाव्रतोंके धारण-पालनसे आत्मिक-श्रद्धा मजबूत होती है, विवेककी वृद्धि होतीहै, साथही स्वानुभूति रूप आनंद की अभिवृद्धि होकर निराकुलता रूप मुक्तिरमाके साथ, अनंतकाल तक रमण होताहै।"

एक अन्य विद्वानने भी लिखाहै—

"व्रतोंका मूल उद्देश्य तृष्णाको तिलांजलि देकर आत्मिक-आनन्दकी ओर अग्रसर होनाहै; परन्तु जो, कुछ-व्यक्ति देखा देखी या जोशमें आकर अथवा होश खोकरभी व्रत धारण करते हैं, तथा उन्हें सहर्ष सोत्साह पालन नहीं करते, अतिचार-दोष लगाते रहते हैं, इससे स्वपरका पतनही होता है।"

वैराग्य-भावनाके अन्तमें कितना मार्मिक उल्लेखहै—

**"परिग्रह-पोट उतारि सब, लीनो चारित-पंथ।
निज-स्वभावमें थिरभये, वज्रनाभि निर्ग्रन्थ ।।"**

समस्त-संसारको अपने चरणोंमें झुकानेकी शक्ति यदि किसी में है तो वह है व्रत-संयम। व्रतकी शक्ति, व्यक्तिकी निजी शक्ति-आत्म शक्ति है। इसमें व्यक्तिकी आत्माका निवास होताहै, या यों भी कह सकतेहैं कि व्रत-संयम, व्यक्तिकी वास्तविक सम्पदाहै, जिसके बल पर संसारकी अधिकसे अधिक मूल्यवान वस्तुयें प्राप्तकी जा सकतीहैं। राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, पण्डित, विद्वान, सभी व्रती-संयमीके चरणोंके चेरे हो जाते हैं।

व्रत; व्यक्तिमें वह सामर्थ्य सम्पन्न करताहै, जो अन्य किसीभी शक्तिसे दब नहीं सकता। धनबल, तनबल, कुटुम्ब-बल, यह बहुतो

का दबा सकताहै, लेकिन व्रती-संयमीके समक्षतो उन सभीको स्वयमेव नतमस्तक होना पड़ताहै।

व्रत-विहीनका जीवनभी क्या कोई जीवनहै? कौन बुद्धिमान उसे जीवन कहताहै? वह जी रहाहै इतने मात्रसे उसमें जीवनकी कल्पना करना निरर्थक है। हाँ उसे तो मृत कहिये अथवा जीवित-लाश या मुर्दा। व्रत-विहीनके निस्तेज-मुख, ज्योतिहीन–नेत्र और विकार युक्त आंगोपांग पहलीही नजरमें, देखने वालोंके अन्तरंगमें, एक ग्लानिसी पैदा कर देते हैं। उसके प्रति श्रद्धा नहीं हो पाती; जबकि व्रती-संयमीका देदीप्यमान मुखमण्डल प्रसन्न-मन एवं समता भाव, प्राणि मात्रको अपनी ओर आकर्षित कर लेताहैं।

व्रतके सम्बन्धमें श्रीउत्तरपुराण (७६–३७४)में आया है—

"अभीष्टं फलमाप्नोति, व्रतवान् परजन्मनि।
न व्रतादपरो बन्धु, र्नांव्रतादपरो रिपुः॥"

अर्थात् व्रती-व्यक्ति, आगामी भवमें, मनोवांछित फलको प्राप्त करताहै। अहिंसादि व्रतोंके समान जीवका कोईभी अन्य बन्धु नहींहै और हिंसादिकके समान अन्य शत्रु नहीं है।

लोकमें तीन प्रकारके व्यक्ति हैं। एकतो वे हैं जो विघ्नके भयसे व्रतोंको धारणही नहीं करते। ऐसे व्यक्ति निकृष्ट या जघन्य कहलाते हैं। दूसरे वे हैं जो व्रतोंको धारण तो करते हैं, लेकिन विघ्न-बाधा आने पर उन्हें छोड़ देते हैं। ऐसे व्यक्ति मध्यम श्रेणीके हैं और तीसरे व्यक्ति वे हैं जो व्रतोंको धारण करनेके पश्चात् कितने ही विघ्न आने परभी उन्हें छोड़ते नहीं। जीवन-पर्यन्त व्रतोंका निर्वाह करतेहैं और ऐसे व्यक्ति उत्तम श्रेणीके कहे जाते हैं। सोही सम्यक्त्व-कौमुदीमें उल्लेखहै—

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः;
प्रारम्य विघ्नविहता विरमंति मध्याः
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,

आरम्भ चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।।"

हमें 'देहस्य सारं व्रतधारणं च' इस संस्कृत सूक्तिको ध्यानमें रखते हुए कि 'मानव जीवनकी शोभा व्रतोंके धारण करनेसे हैं; कभीभी व्रतोंसे पराङ्मुख नहीं रहना चाहिए।

हमारे गुरुमहाराज आचार्य श्रीमहावीरकीर्तिजी कहा करते थे कि—

"घोड़ा चढ़े पड़े, पड़े क्या पीसनहारी ।
द्रव्यवंतही लुटे, लुटे क्या जन्म-भिखारी ।।"

पर यहां उनके कहनेका यह अभिप्राय नहीं था कि व्रत लेकर पालन नहीं करना। वे स्पष्ट रूपमें कहतेथे कि "सोच समझकर व्रत अवश्य धारण करो। कर्मयोगसे व्रत छूटभी जायतो पुनः धारण करो। व्रत सहित मरणको प्राप्त होनेसे नियमसे देवगति की ही प्राप्ति होती है, फिर परम्परासे मुक्ति प्राप्त होती है।"

व्रतके विषयमें सागार धर्मामृत अध्याय ७ का श्लोक ५२ इस प्रकार है—

"प्राणान्तेऽपि न भंक्तव्यं, गुरुसाक्षिश्रितं व्रतं ।
प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःखं, व्रतभंगो भवे भवे ।।"

अर्थात् गुरुकी साक्षी-पूर्वक लिये गये व्रतको प्राणान्त होनें परभी भंग नहीं करना चाहिये क्योंकि प्राणान्त–मरणसे तो उसी क्षण दुख होता है लेकिन व्रतको भंग करने से भवभवमें कष्ट प्राप्त होताहै और इसीलिए एक आचार्यश्री ने उल्लेख किया है कि—

"वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, न चाऽपिमग्नं चिरसंचितं व्रतं ।।

अर्थात् भीषण अग्निमें प्रवेश करना तो श्रेष्ठहै, लेकिन चिर-संचित व्रतको भंग करना अच्छा नहीं।

हमें इस प्रसंगमें एक आचार्यश्रीके निम्न श्लोकके भावको भी सदैव स्मरण रखना चाहिये—

"वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतोहतः ।।"

अर्थात् व्रततो धारण करनाही चाहिये, साथही उसका यत्न-पूर्वक पालनभी करना चाहिये । क्योंकि लोकमें धनतो आता जाता रहताहै, परन्तुजो व्रतोंसे च्युतहो जाताहै उसकातो सर्वस्वही विनष्ट हुआ समझना चाहिये ।

सामान्यसे देखा जायतो व्रतके कोई भेद नहींहैं, क्योंकि व्रत कहनेसे ही सभी प्रकारके व्रत आ जाते हैं । संक्षेपमें भेद किये जायेंतो व्रत दो प्रकारके हैं । सोही श्रीउमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र संख्या दो में इस प्रकार बताया है—

'देश-सर्वतोऽणु महती' अर्थात् व्रत दो प्रकारके हैं, एकतो अणु-व्रत और दूसरे महाव्रत । हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग 'अणुव्रत' और इन्हीं पापोंका सर्वदेश-पूर्णतया नवकोटिसे त्याग करना 'महा-व्रत' है ।

दुनियांमें वस्तुका विभाजन एकतो भोगवस्तुके रूपमें है और दूसरा उपभाग वस्तुके रूपमें और इस अपेक्षाभी व्रतके दो भेद हो सकते हैं । भोगवस्तुका त्याग करने रूप 'भोगव्रत' तथा उपभोग वस्तु का त्याग करने रूप 'उपभोगव्रत' । भोग-उपयोगका स्वरूप श्रीरत्न-करण्डमें इस प्रकार बताया है—

"भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसन, प्रभृतिपंचेन्द्रिय-विषयः ।।८३।।

अर्थात् जिसका एक बार भोगकर त्यागहो जाता है तथा पुनः भोगनेमें नहीं आवे वह भोगवस्तु है । जैसे-भोजन, लड्डू, पेड़ा, रोटी आदि । जो एक बार भोगनेके बाद पुनःभी भोगनेमें आसके वह उप-भोग वस्तु है । जैसे-वस्त्र, आभूषण, नल, बिजली, मकान, पलंग आदि ।

कोईभी संकल्प, प्रतिज्ञा, त्याग अथवा व्रत, या तो जीवनभरके लिये किया जाता है अथवा सीमित कालके लिए और इस प्रकारभी व्रतके दो भेदहो सकते हैं। एकतो जीवन भरके लिए धारण किया जाने वाला व्रत (यम) और एक सीमित कालके लिए लिया जाने वाला व्रत (नियम)। सोही स्वामी-समंतभद्रने रत्नकरण्ड श्लोक ८७में इस प्रकार प्रकट किया है—

"नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥"

आगे आचार्यश्रीने नियमके विषयमें श्लोक ८८ और ८९में स्पष्ट किया है—

"भोजनवाहनशयन, स्नानपवित्रांगरागकुसुमेषु।
ताम्बूलबसनभूषण, मन्मथसंगीतगीतेषु ॥
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तु रयनं वा।
इतिकाल परिच्छित्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥"

इसका सरस-सुन्दर और सरल हिन्दी-पद्यानुवाद इस प्रकार पठनीय है—

"भोजन वाहन शयन स्नान रुचि, इत्रपान कुंकुमलेपन।
गीत वाद्य संगीत कामरति, माला भूषण और वसन ॥
इन्हें रातदिन पक्षमास या, वर्ष आदि तक देना त्याग।
कहलाताहै 'नियम' और 'यम', आजीवन इनका परित्याग ॥"

हमें इस प्रसंगमें महर्षियोंके निम्न वाक्यों व सूक्तियोंको भी ध्यानमें लेनेकी आवश्यकता है।

"व्रतेन यो विना प्राणी, पशुरेव न संशयः।
योग्यायोग्यं न जानाति, भेदस्तत्र कुतो भवेत् ॥"

अर्थात् इसमें कोईभी संदेह नहीं है कि व्रतविहीन प्राणी; पशु-अज्ञानीही है क्योंकि अव्रती, योग्य-अयोग्यके विवेकसे विहीन होता है। उसमें विवेक होताही नहीं।

"राग-द्वेष-निवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः"

अर्थात् साधु-आत्महितैषी भव्यात्मा, राग-द्वेषादि विकारोंको दूर करनेके लिए, चारित्र (व्रत) धारण करता है।

"ये नित्यं व्रतमंत्रहोम निरताः"

अर्थात् साधु पुरुष नित्यही व्रत, मंत्र और होम-कषायोंको दूर करनेमें संलग्न रहते हैं।

"व्रत समुदयमूलः" अर्थात् व्रतोंका समुदायही धर्मवृक्षकी जड़ है।

"सद्वृत्तानां गुणगणकथा" अर्थात् जब तक मोक्ष सुखकी प्राप्ति न हो तब तक हे परमात्मन् ! मैं शास्त्रानुकूल व्रतोंकी महिमा का गुणगान किया करूं।

पाक्षिक-प्रतिक्रमणमें उल्लिखित निम्न-गाथायेंभी व्रतके सम्बन्धमें आदरणीय हैं—

"धिदिमंतो खमाजुत्तो, झाणजोगपरिट्ठिदो।
परीसहाण उरं देंतो, उत्तमं वदमस्सिदो॥"

अर्थात् जो धैर्यवान है, उत्तमक्षमाको धारण करने वाला है, सब ओरसे ध्यानयोगमें स्थित है, साथही क्षुधा-तृषादि परीषहों को सहन करने वाला है, वही उत्तमव्रत-महाव्रतोंको धारण-पालन करने वाला होता है। इसी प्रकार—

"पाणादिवादं च हि मोसगं च, अदत्तमेहुण्ण परिग्गहं च।
वदाणि सम्मं अणुपालइत्ता, णिव्वाणमग्गं विरदा उवेंति॥"

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इनके त्याग-रूप अहिंसादि व्रतोंको पालन करने वाले दिगम्बर-मुनि, निर्वाण-मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार इस लेखमें आचार्यों आदिके उद्धरण देकर, व्रतका स्वरूप, व्रतकी आवश्यकता, व्रतका माहात्म्य और संक्षिप्त भेदोंके विषयमें प्रतिपादन किया है। वास्तवमें व्रत, नियम, चारित्रके विना, मनुष्य जीवन पंगु या नेत्र विहीन व्यक्तिके समान निरर्थक है। अन्तमें—

"दृढतासे व्रत धारकर, पालें दृढता पूर्व।
स्वपरका कल्याण हो, फिर निर्वाण अपूर्व॥" —इत्यलम्

-: दर्शन-विशुद्धि भावनाः लघु अन्वेषण :-

जैन मान्यतानुसार, सोलहकरण पर्व, अनादि-कालीन है। यह पर्व वर्षमें तीन-बार आता है लेकिन विशेषकर भाद्रपद मासमें ही मनाया जाता है। यह माघ-कृष्ण एकसे फागुन कृष्णा एकम तक, प्रथम बार ; चैत्र कृष्णा एकमसे बैशाख-कृष्णा एकम तक, द्वितीय-बार; तथा भाद्रपद कृष्णा एकमसे आश्विन-कृष्णा एकम तक, तृतीय बार; इस प्रकार प्रति वर्ष तीन बार आता है। इसका व्रत-विधान करनेका भी विवेचन है।

इसमें सर्वोत्कृष्ट-पुण्यकी कारणभूत, सोलह भावनाओंका चिंतन-मनन किया जाता है, क्योंकि सोलह-भावनाओंके चिंतन-मननसे और परिपालनसे ही, स्व-परकी विशेष कल्याण-कारिणी 'तीर्थंकर-प्रकृति' का आस्त्रव होकर, बन्ध होता है। सोलहकारण-भावना सम्बन्धी 'सूत्र' इस प्रकार है—

"दर्शन-विशुद्धिर्विनय-सम्पन्नता—शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधु-समाधिर्वैय्यावृत्य-करणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन-भक्तिरावश्यकाऽपरिहाणि-र्मार्गप्र—भावना-प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य।"

—त. सू, अ. ६ सूत्र २४

अर्थात् दर्शनविशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शीलव्रतेषु अनतिचार अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितः त्याग, शक्तितः तप, साधु-समाधि, वैय्यावृत्यकरण, अर्हंतभक्ति आचार्य भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यक-अपरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचन वत्सलत्व ये सोलह भावना हैं और ये तीर्थंकर होनेमें हेतु (कारण) हैं। इनकी महिमा संस्कृत-पूजन जयमालमें इस प्रकार वर्णित की है—

"एताः षोडश-भावना, यतिवराः कुर्वान्ति ये निर्मलाः ।

ते वे तीर्थंकरस्य नाम-पदवी,मायुर्लभन्ते कुलम् ।।

वित्त-कांचन-पर्वतेषु विधिना, स्नानार्चनं देवता ।

राज्यं सौख्यमनेकधावरतपो, मोक्षं च सौख्यास्पदम् ।।

–महाकवि रयधु

अर्थात् जो यतिवर; इनदर्शनविशुद्धि आदि सोलह-भावनाओं को ध्याते हैं, वे निश्चय ही; तीर्थंकर-पद परिपूर्ण आयु, उत्तम कुल, सम्पत्ति, सुमेरू पर्वत पर विधि पूर्वक अभिषेक, देवतापद, अनेक प्रकार के राज्यसुख, श्रेष्ठतप और अविनाशी सौख्य-स्वरूप मोक्ष-पद पाते हैं।

हिन्दी-पूजन जयमालके प्रारम्भमें भी लिखा है—

"षोडश कारण गुण करे, हरे चतुर्गति-वास ।

पाप-पुण्य सब नाशिके, ज्ञान-भानु परकास ।।"

अर्थात ये सोलह कारण भावना; चतुर्गतिके निवास रूप दुखको दूर करती है। इतनाही नहीं; अपितु इनसे पाप और पुण्य का विनाश होकर, केवल ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाश स्वरूप गुण प्रकट होता है।

अब प्रसंगानुसार इन तीर्थंकर-प्रकृतिकी कारणभूत सोलह-भावनाओंमें से, सर्व-प्रथम; दर्शनविशुद्धि' नामक प्रथम भावनाके विषयमें समझना है, क्योकि सबमें मुख्य-मूल आधार यही भावना है। इसके बिना शेष 'विनय सम्पन्नता' आदि पन्द्रह भावना हो नहीं सकती। जैसे कि जड़के बिना वृक्ष नहीं होता, नींवके बिना महल-मकान नहीं बनता। हाँ तो, इसके विषयमें श्रीअकलंकदेव सूरिने, तत्त्वार्थ-राजवार्तिकमें उल्लेख किया है—

"जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्ष-वर्त्मनि रुचिः निःशंकितत्वाद्य-

ष्टांगा दर्शनविशुद्धिः । जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थ लक्षणे मोक्ष-वर्त्मनि रुचि दर्शनविशुद्धिः।"

अर्थात् जिनेन्द्र-भगवानके द्वारा बताये हुये त्याग रूप मोक्ष-प्राप्तिके मार्ग (उपाय) में, निःशंकितत्व आदि आठ अंग वाली रुचि (श्रद्धा) होना, 'दर्शनविशुद्धि' है।

सोलह कारण पूजन-विधानमें लिखा है—

"भावना दर्श-विशुद्धि सो जानिये,
तास मधि दोष पच्चीस नहिं मानिये।
या बिना मोक्ष कूँ और अंग ना करे,
जजौं इमि जान इहाँ, थापि सो अघ हरे॥"

अर्थात् दर्शनविशुद्धि भावना वह है, जिसमें पच्चीस दोष (आठ मद, शंकादि आठ दोष, छह अनायतन और तीन मूढता) नहो हों। इसके बिना अन्य अंगसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

श्रीजिनवाणीसंग्रहमें भी आया है—

आठ दोष मद आठ मलीन, छह अनायतन शठता तीन।
ये पचीस-मल वर्जित होय, दरशविशुद्धि कहावे सोय॥"

अर्थात् शंका, कांक्षा आदि आठ दोष; ज्ञानमद, पूजा-मद आदि आठ मद; कुगुरु, कुदेव आदि की मान्यता रूप छह प्रकारके अनायतन और लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता तथा पाखंडी मूढ़ता; इस प्रकार तीन तरहकी शठता; इन पच्चीस दोषोंसे रहित होने पर 'दर्शनविशुद्धि' नामक प्रथम भावना कहलाती है।

उपरोक्त २५ दोषों या उनमेंसे किसीके भी रहने पर, दर्शन अर्थात् सच्चे देवके द्वारा प्रतिपादित मोक्ष मार्गमें रुचि (विश्वास) में कमी रहती है, अतः उपरोक्त दोषों का दूर होना अति आवश्यक है विस्तार-भयसे यहाँ उन दोषों या उनसे रहित २५ गुणों को नहीं लिखा जा रहा है।

हां तो अब कवि टेकचन्दजी रचित, सोलह कारण पूजन-विधा में जो प्रथम भावनाके विषयमें गीता छन्द लिखा गया है वह ध्या देने योग्य है–

"दरशन विशुद्धि-भावना, शुभदोष-बिन निरमल सही।
यह मोक्ष-वट का बीज नीका, या बिना नहिं शिव-मही
या देय तीरथ नाथ पदवी, महा-मंगलदाय है।
सो जजों दरशन-भावना, शुभ काय मन वच लाय है ॥'

इसका अर्थ अति सरल है। थोड़ा सा कुछ मस्तिष्क लगाने ही समझमें आ जाता है। एक कविने भी इस भावनाके सम्बन्ध लिखा है—

"जो है प्रधान-बल, कारण तीर्थ-बन्ध,
देती नशा रिपु-सभी, परभाव-फन्द।
ऐसी जु दरशन विशुद्धि, सु-भावना है,
भाऊँ सदैव मनकी, शुभ-कामना है ॥"

अर्थात् यह दर्शनविशुद्धि भावना, तीर्थंकर-प्रकृतिके बन्धक प्रधान बल और कारण है। यह सभी कर्म-रिपुओं तथा राग-द्वेषादि परभावोंके फन्द को नष्ट करती है। अतएव मैं (आराधक) इसक सदैव चिन्तन-मनन करता रहूँ, ऐसी मेरी पवित्र कामना है। इसका महत्व बताते हुये हिन्दी पूजन जयमालमें आया है–

"दरश विशुद्धि धरे जो कोई, ताको आवागमन न होई"

अर्थात् जो भव्य-प्राणी; पच्चीस दोषोंसे रहित, इस दर्शन-विशुद्धि भावनाको धारण करता है, उसका आवागमन (जन्म मरण) नहीं होता।

पूजनके प्रारम्भमें भी कितना हृदय-स्पर्शी छन्द है–

"सोलहकारण भाय, तीर्थंकर जे भये,
हर्षे इन्द्र अपार मेरुपै ले गये"

आगे इसी पूजनकी प्रत्येक अंचलिकामें आया है, जिसे आप हम भाव-विभोर हो बोला करते हैं कि—

"दरशविमुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय ।
परमगुरु होय, जय-जय नाथ परमगुरु होय ।।"

प्रत्येक-जीवात्मा; शक्तिकी अपेक्षा 'दर्शनविशुद्धि' भावना स्वरूप है, लेकिन स्वयंको भूले रहनेसे अथवा कर्मोंकी बलवत्ताके कारण, शक्तिके प्रकट न होनेसे, दुख का अनुभव कर रहा है। मनुष्य-पर्यायमें इस शक्ति को व्यक्त किया जा सकता है, परन्तु पहले कुछ पुरुषार्थ द्वारा विषयोंसे मुख मोड़ना होगा। सच्चे-गुरुओंकी श्रद्धा व संगति करनी होगी। सच्चे-शास्त्रोंको पढ़ना व सुनना होगा। यदि हमने वास्तवमें ऐसा पुरुषार्थ किया तो, निराकुल सुख-शांति की कारणभूत 'दर्शनविशुद्धि' हुये बिना न रहेगी। फिर देखो ! अपनेमें; आनंद ही आनंद, सुख ही सुख तथा शांति ही शांति।

इस सम्बन्धमें हमारे दयालु-महर्षियोंने हमें कैसी हृदयस्पर्शी मार्मिक-चेतावनी दी है–

"दिढ़ धरहु, परम-दंसरण-विसुद्धि"

अर्थात् हे दुनियाँके भव्यात्माओं ! यदि अपना आत्म-हित चाहते हो तो, इस परम दर्शनविशुद्धि' भावनाको दृढतासे धारण करो।

पूजन-विधानकी निम्न दो पंक्तियां, जो कि दोहेके रूपमें हैं, इस सम्बन्धमें बार-बार चिंतनीय हैं।

"दरश विशुद्धि भावना, भावो मन-वच-काय ।
तो बाँधो पद-तीर्थको, और अधिक कहा गाय ।।"

अर्थात् हे जगतके जीवात्माओं ! तुम मन वचन कायसे, इस दर्शनविशुद्धि भावनाको भावो, इससे निश्चय ही तीर्थंकर पद प्राप्त होता है। हम इसके सम्बन्धमें और अधिक क्या गुणगान करें।

इत्यलम्

※ आचार्यश्री की अमर-वाणी ※

(स्वर्गीय आचार्य श्रीमहावीर कीर्ति महाराजके कुछ प्रेरणा-प्रद बोध-वाक्योंको, अमरवाणीके रूपमें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है पाठकगण इनसे लाभान्वित होंगे ।)

१. वे अपने उपदेशमें सुनाया करते थे—

"णमोकार-सा मंत्र नहीं, वीतराग-सा देव ।
सम्मेदशिखर सी यात्रा नहीं, आतमदेव सुदेव ।।

अर्थात् णमोकार मन्त्रके समान अन्य-मंत्र नहीं है, अठारह दोष रहित वीतराग-भगवानके समान अन्य देव नहीं है, सम्मेद-शिखर की यात्राके समान अन्य यात्रा नहीं है क्योंकि यह यात्रा करनेसे नरक और तिर्यंच गतिमें जन्म नहीं होता और अपना आतमाही सच्चा देवोंका देव है ।

२. एक बार उन्होंने सुनाया था—

"जो खोटा हो चुका सिक्का, भला वह कब खरा होगा ।
जो सूखा पेड़ों हो जड़से, भला वह कब हरा होगा ।।
नदी पेड़ों व चट्टानों का, सारा गर्व हरती है ।
मगर सागरसे मिलकरके, वह अपना नाश करती है ।।"

अर्थात् जो सिक्का खोटा हो गयाहै वह कभीभी खरा नहीं हो सकता । जो वृक्ष जड़सेहो सूखाहो तो वह कभीभी हरा नहीं हो सकता । नदीका जब तीव्र बहाव होताहै तो वह वृक्षों और चट्टानोंके नष्ट करने रूप उनके सर्व-गर्वको दूर करती है, परन्तु वह नदी समय पाकर जब समुद्रमें मिलतीहै तो वह अपना सर्वस्व खो देती है ।

३. वे कभी-कभी सुनाया करते थे—

"उत्तम खेती मध्यम वणज,
अधम चाकरी निश्चय मरण।"

इसका वे दो प्रकारसे **अर्थ समझाते थे—**

(अ) जीवन–निर्वाहके लिए **खेती करना** उत्तमहै, वाणिज्य-व्यापार करना मध्यम है और चाकरी-नौकरी करना, अधम (जघन्य) है। यह नौकरी सचमुचमें मरण तुल्यही है।

(आ) अपने आत्माका उद्धार करना, उत्तम खेतीहै, दूसरों के उपकारमें लगना, मध्यम वाणिज्य है और पंचेन्द्रिय-विषयोंका दासपना, वास्तवमें मरण तुल्यही है। एक प्राचीन महर्षिने भी उल्लेख कियाहै—

"आदहिदं कादव्वं, जं सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहिवादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥"

अर्थात् अपने आत्माको हित मार्गमें लगाना चाहिये। फिर यदि सामर्थ्यहो तो अन्योंको भी हित मार्गमें लगाया जा सकता है। हां इन दोनों (आत्महित और परहित) में आत्महितही सर्व-श्रेष्ठ है।

४. तपका महत्व स्पष्ट करते हुए वे समझाते थे—

"यद्दूरं यद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितं।
तत् सर्वं तपसा साध्यं, तपोहि दुरतिक्रमं॥"

अर्थात् जो **कार्य देरीसे तथा कठिनाई** से सिद्ध होने वाला है और जिसका फल बहुत काल **पश्चात्** मिलने वाला है, वहभी तपश्चरणके बलसे साध्य है। दुनियांमें ऐसा कोईभी कार्य नहीं जो तप से सिद्ध न हो। भले वह काय लौकिकहो या पारलौकिक।

५. वे अधिकांश रूपमें सुनाया करते थे—

"वित्तं हि नष्टं किंचिन्न नष्टं, स्वास्थ्यं हि नष्टं किंचिद्धि नष्टं।
वृत्तंहि नष्टं सर्वं विनष्टं, तस्माच्च वृत्तं परिरक्षणीयं॥"

इसका अनुवाद वे आंग्ल (अंग्रजी) भाषामें इस प्रकार समझाते थे—

"वेल्थ इज लोस्ट, नथिंग इज लोस्ट ।
हेल्थ इज लोस्ट, समथिंग इज लोस्ट ।
इफ केरेक्टर इज लोस्ट, एवरीथिंग इज लोस्ट ।"

अर्थात् यदि किसीका धन नष्ट हो गया हो तो समझना, कि कुछभी नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि धनको भाग्य और परिश्रमसे फिर से प्राप्त कर सकते हैं। यदि किसीका स्वास्थ्य बिगड़ गया हो तो समझना कि कुछ बिगाड़ हुआ है, क्योंकि लौकिक सप्त-सुखोंमें पहला सुख, शरीरका निरोग रहना है। देवपूजा, गुरुपास्ति आदि श्रावकों के षट्कर्म, इसी प्रकार अणुव्रतों और महाव्रतोंका परिपालन, शरीर के निरोग रहने परही साध्य होते हैं। हाँ स्वास्थ्यभी, योग्य उपचार और औषधियोंसे प्राप्त किया जा सकता है, इसलिये कुछ बिगाड़ समझना। लेकिन यदि कोई व्रत-शील-संयम रूप चारित्रसे पतित हो गया है, तो समझना कि उसका तो सर्वस्वही नष्ट हो गया। क्योंकि 'चारित्तं खलु धम्मो' की सूक्तिके अनुसार 'चारित्रही निश्चय से धर्म है', अतः व्रत-शील-संयमकी सर्वाधिक यत्न पूर्वक रक्षाकी जानी चाहिए।

६. विषयको मनोरंजक बनाने हेतु वे सुनाते थे कि—

"घरमें पारस बेचें तेल,
ये देखो दुनियां के खेल।"

इसका वे दो प्रकारसे अर्थ समझाते थे—

(क) अर्थात् दुनियांके खेल–विचित्रतायें तो देखो ! कि घरमें पारसमणि पड़ा हुआ है फिरभी अज्ञानितासे तैलीही बने हुए हैं। पारसमणिका स्पर्श कराके तो लोहेका सुवर्ण बनाया जा सकता है।

(ख) अर्थात् इस संसारकी विचित्रतायें तो देखो ! कि पारस मणिके समान मानव–जीवन प्राप्त हो जाने परभी, विषय–

वासनाओंमें ही लिपटे हुए हैं। इस मानव-पर्यायसे तो आत्म-तत्त्व को समझकर, शाश्वत् व निराकुल मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

७. एक बार उन्होंने दोनों पहलुओंसे मतलब-गांठने वाले, एक उच्चकोटिके कविकी स्तुतिका नमूना सुनाया था, जो कि इस प्रकार है—

"आनीता नटवन्मया तव पुरः, श्रीपार्श्व या भूमिका,
व्योमाकाश-खखाम्बराब्धि वसवः त्वत्प्रीतयेऽद्यावधिः।
प्रीतो यद्यसि तां निरीक्ष्य भगवन्! मत्प्रार्थितं देहि मे,
नो चेद् ब्रूहि कदापि नानयमिमां, मामीदृशीं भूमिकां॥"

अर्थात् हे पार्श्वनाथ-भगवान! नटके समान मैंने, आपको प्रसन्न करनेके लिये, बहुरूपिया (ससारी-कर्मबद्ध) होकर, १ चौरासी लाख वेश दिखाये। उन अभिनयों (वेशों) को देखकर, यदि आप प्रसन्न हो गये हों, तो मुझे मनोवांछित अर्थको मांगने के लिये आज्ञा-प्रदान कीजिये। हाँ यदि आप उन रूपोंको देखकर प्रसन्न नहीं हुये हों, तो मुझको उन नापसन्द चौरासी लाख वेशोंको नही धरनेकी स्वीकृति प्रदान कीजिये। कविने इस प्रकार दोनों पहलुओंसे जन्म-मरण रहित अविनाशी-मोक्षपदकी ही कामना या बांछाकी है।

८, लौकिक सात-सुखोंके सम्बन्धमें वे यह छन्द सुनाया करते थे कि—

---

१. "णिच्चिदर धादु सत्त य, तरुदसवियलिंदियेसु छच्चेव।
सुर-णिरय-तिरिय चउरो, चोद्दस मणुए सदसहस्सा॥

अर्थात् नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन प्रत्येककी सात-सात लाख; तरु (प्रत्येक वनस्पति) की दश लाख; द्विइन्द्रिय, तीन इंद्रिय, चतुः इंद्रिय इन तीनकी दो दो लाख; देव, नारकी, तिर्यंच पंचेन्द्रिय इन तीन की चार-चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख; इस प्रकार सब मिलकर ८४ लाख योनियाँ होती हैं।

"पहला-सुक्ख निरोगी-काया, दूजा-सुख हो घरमें माया ।
तीजा-सुक्ख सुलक्षण-नारी, चौथा-सुख सुत-आज्ञाकारी ।।
पंचम-सुक्ख पंच सब मानें, छट्ठा-सुख विद्या पहिचानें ।
सप्तम-सुक्ख भक्ति जो होई, जगमें पूरण सुखिया सोई ।।"

अर्थात् शरीरका निरोग रहना-प्रथम-सुख है, घरमें सम्पत्तिका होना दूसरा सुख है, अच्छे लक्षण-गुण स्वभाव वाली स्त्रीका होना तीसरा सुख है, आज्ञाकारी पुत्रका होना चौथा सुख है, पंच-पंचायत में आदर-सत्कार होना पांचवाँ सुख है, गुणी-विवेकी होना, छठा सुख है और सातवाँ सुख; देव-शास्त्र व गुरुओंके प्रति श्रद्धा-भक्ति का होना है। इस प्रकार लौकिक सात-सुख हैं। ऐसा व्यक्ति लौकिक-द्रष्टिसे पूर्ण-सुखी है।

६. उनके द्वारा सुनाया जाने वाला, यह दोहाभी विशेष चिन्त-नीय है कि—

"लोक-लीक गाड़ी चले, लीकही चले सपूत ।
लीक छोड़ तीनही चले, कायर क्रूर कपूत ।।"

अर्थात् गाड़ी कोईभी हो, चाहे वह रेलगाड़ी हो, अथवा मोटर गाड़ी या बैल गाड़ी आदि; परन्तु वह अपने मार्गानुसार ही चलती है, इसी प्रकार सुपुत्र या सुशिष्यभी अपने ऋषिमहर्षियों या बड़े-बूढ़ों (गुरुजनों) की मर्यादा-अनुसारही सदाचारका पालन करता है। हाँ, जो कायर होता है या क्रूर स्वभावका होता है अथवा कपूत होता है, वह मर्यादाओंका पालन नही करता। अब हम स्वयं गहराईसे सोचेंकि हम किस मार्ग-लीक का अनुसरण कर रहे हैं।

इत्यलम्

—❀—

—: अमृतपान और विषपान :—

हाँ तो विषय प्रस्तुत है—'अमृतपान और विषपान'। यदि आपसे पूछा जाय कि आपने अमृतपान किया है ? तो आप तुरन्त उत्तर देंगे कि नहीं। फिर आपसे पूछा जाये कि आपने अमृतपान क्यों नहीं किया ? तो अब आप उत्तर देंगे कि उसकी प्राप्ति ही नहीं हुई। कोई कर्म योगसे आपको अमृतकी प्राप्ति हो जावे और फिर आपसे पूछा जाये कि अब तो आप अमृतपान करेंगे ? तो आप उत्तर में यही कहेंगे कि जब भाग्योदयसे इसकी प्राप्ति हुई है, तो इसे पीयेंगे ही, क्योंकि संसारमें अधिकांशतः समझते ही है, कि अमृतपान करना साधारण-पुण्यकी महिमा नहीं है, अपितु यह या ऐसा संयोग तो महान् पुण्योदयसे होता है। इसे पीनेसे बुढ़ापा नहीं आता, कोईभी प्रकारका शरीरमें रोग नहीं होता। व्यक्ति सदैव नवयुवक बना रहता है। इससे शरीर; सुन्दर और सुडौल बना रहता है।

अब इसी प्रकार आपसे यह पूछा जाये कि आपने कभी विष-पान भी किया है ? तो आप कुछ चौंक कर घबड़ायेसे यही कहेंगे कि नहीं। फिरसे पूछा जाये कि विषपान क्यों नहीं किया, क्या आपको उसकी प्राप्ति नहीं हुई ? तो झुँझलाकर यह नही कहेंगे कि विष की प्राप्ति नहीं हुई, अपितु यही कहेंगे कि विष से तो मृत्यु हो जाती है। व्यक्ति; आधि-व्याधियोंका शिकार हो जाता है।

हाँ तो आप; 'अमृतपान क्या है और विषपान क्या है' इसे समझ गये। अब आप यदि वास्तवमें अपनी आत्माका कल्याण चाहते हैं, आत्मासे परमात्मा होना चाहते हैं तो आइये! आध्या-त्मिक-धार्मिक दृष्टिसेभी इस विषय को समझकर जीवनमें उतारने का प्रयत्न (पुरुषार्थ) करें।

हाँ तो आप हम अमृतपान छोड़कर विषपान कर रहे हैं—

१. यदि धर्म धारण न करके, अधर्म धारण करते हैं,

२. यदि पुण्यभाव न करके, पाप-भाव करते हैं,

३. यदि व्रतोंको न धारण करके, अव्रतोंको अंगीकार करते हैं,

४. यदि सुसंगति न करके, कुसंगति करते हैं,

५. यदि सच्चे गुरुओंको न मानकर, कुगुरुओंको मानते हैं,

६. यदि भक्ष्य-पदार्थोंका भक्षण न करके, अभक्ष्यों का भक्षण करते हैं,

७. यदि सिंहवृत्ति स्वीकार न करके, शृगाल-वृत्ति अपनाते हैं,

८ यदि स्वाधीन होने का उपाय न करके, पराधीन होते जाते हैं,

९. यदि अन्तरात्मा होनेका प्रयत्न न करके, बहिरात्मा ही बने रहते हैं

१०. यदि ज्ञान-चेतना रूप होनेका पुरुषार्थ न करके, कर्म व कर्मफल-रूप चेतना ही रहते हैं,

११. यदि आत्महितमें न लगकर, अनात्मा-शरीरादिके भरण-पोषण में ही लगे रहते हैं,

१२. यदि अतीन्द्रिय-सुखका, क्षण मात्रभी रसास्वाद न लेकर, इन्द्रिय जनित सुखाभासमें ही तल्लीन रहते हैं,

१३. और यदि पुण्य भावके साथ, शुद्धोपयोगका लक्ष्य न रखकर अशुद्धोपयोगमें ही अटके रहते हैं।

इत्यलम्